

## प्रथम अध्याय

# भारत में स्त्री-दृष्टि का विकास और हिन्दी कथा-साहित्य (प्रारम्भ से 1990 तक) : एक विहंगावलोकन

---

### (क) प्राचीन एवं मध्यकाल में स्त्री मुक्ति का परिप्रेक्ष्य

“प्रागैतिहासिक समाज की परिकल्पना मूलतः अनुमान पर आधारित होती है। लेकिन इसके बावजूद परवर्ती समाज की वास्तविकताओं और उसके मानव-मूल्यों के द्वैत से व्यक्त होने वाले सन्दर्भों से पूर्वकालीन समाज के यथार्थ को समझा जा सकता है। प्रागैतिहासिक समाज की आधारभूत संरचना के आधारों को भी इसी प्रकार एक हद तक रूपायित किया जा सकता है।”<sup>1</sup> पूर्व वैदिक समाज में स्त्री-पुरुष दोनों को सहअस्तित्व प्राप्त था। समाज की प्रारम्भिक अवस्था कबीलाई समाज की थी। मानव छोटे-छोटे कबीले का निर्माण कर एक साथ जीवनयापन के साधनों को जुटाने का कार्य करता था। स्त्री-पुरुष दोनों के कार्य बँटे हुए थे। स्त्री घर के कार्यों को करते हुए बच्चों का पालन-पोषण करती थी और पुरुष शिकार आदि के द्वारा भोजन का प्रबन्ध करता था, जिसके कारण परिवार का नेतृत्व स्त्री अर्थात् माता ही करती थी।

भारतीय समाज की प्रारम्भिक अवस्था में ही नहीं बल्कि विश्व के प्रत्येक हिस्से में मातृसत्तात्मक व्यवस्थाएं रही हैं, इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। डॉ. एस एन. दुबे सैन्धव समाज में स्त्रियों की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं “सैन्धव समाज में स्त्रियों का बड़ा समादर था। धार्मिक तथा सामाजिक समारोहों में पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी बराबर भाग लेती थीं। इस काल में विनिर्मित बहुसंख्यक नारी मृण्मूर्तियों तथा

अधिकांश मातृदेवी रूपों के अंकनों के आलोक में यह सहज अनुमेय है कि सैन्धव समाज मातृसत्तात्मक था। नारियों को इस समाज में बड़ा महत्वपूर्ण एवं आदरणीय स्थान प्राप्त था। इस काल में परदा-प्रथा के साक्ष्य नहीं मिलते हैं। नारियाँ शिशु-पालन, घर-आँगन का कार्य, सूत कातना तथा ग्राम्य क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कृषि आदि कार्यों में बराबर सहयोग प्रदान करती थीं।<sup>2</sup>

मनुष्य के शिकार की घुमक्कड़ प्रवृत्ति ने प्रकृति के रहस्य को जानने की दिशा में कदम बढ़ा दिया। इसके परिणामस्वरूप वह नई-नई वस्तुओं के सम्पर्क में आने लगा जबकि नारी अपने घर से बहुत दूर नहीं निकल पाती थी। धीरे-धीरे पुरुष नवीन खोज की ओर अग्रसर हुआ और उसने पशुओं को पालतू बनाकर सीधा किया। तदुपरान्त उसने धातु का आविष्कार करके क्रमशः हल का निर्माण किया। इस प्रकार अपने पालतू पशुओं के सहयोग से हल के द्वारा खेत को जोतकर कृषि कार्य सम्पन्न किया। कृषि कार्य के लिए मानव श्रम की आवश्यकता पड़ती है और प्रजनन क्षमता स्त्रियों के पास थी। प्रारम्भिक कृषि युग में स्त्रियों की स्थिति के बारे में सीमोन द बोउवा लिखती हैं “कृषि समुदाय में औरत को असाधारण मान्यता मिली, सामूहिक जीवन में व्यभिचार को मान्यता प्राप्त नहीं थी। स्त्री एवं पुरुष सामूहिक रूप से धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अस्तित्व के सहभागी थे। उनका व्यक्तित्व, शुद्ध रूप से जैविक तथ्य था। विवाह किसी रूप में, किसी रहस्यमय बन्धन की कुंजी नहीं था। औरत अपने कबीले से जुड़ी हुई थी, पति की दासी नहीं। परिवार में उसे प्राथमिकता प्राप्त थी। प्रायः वंश का नाम माँ के नाम से चलता था सामूहिक सम्पत्ति का स्वामित्व भी औरत के पास था।<sup>3</sup> ज्यों-ज्यों समाज का विकास होने लगा, सम्पत्ति का एकीकरण शुरू हुआ। मानव श्रम की महत्ता बढ़ी, त्यों-त्यों स्त्रियों की स्थिति में अन्तर आने लगा मातृत्व जहाँ स्त्री के लिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त अमूल्य वरदान था, वही पुरुषों की अधीनता स्वीकार करने का कारण बना। गर्भावस्था में स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता था। इस समय

परिवार की बागडोर पुरुष स्त्री को अपने अधीन कर उस पर भी अपना स्वामित्व चाहने लगा। सीमोन ने “मातृत्व” को स्त्री की दासता का मूल कारण बताते हुए लिखा है “यद्यपि माँ की प्रजनन क्षमता को नकारा नहीं जा सकता था किन्तु तब भी यह माना गया कि माँ अपने गर्भ से उस जीव भ्रूण का केवल भरण-पोषण करती है जो पिता द्वारा आरोपित है। औरत शक्ति सम्पन्न होती हुई भी उर्वरा थी, उसमें प्रजनन की क्षमता थी। यह क्षमता पुरुष के पास नहीं थी। औरत की यही विशेषता उसकी दासता का मूल कारण भी बनी। मासिक धर्म, गर्भाधान एवं प्रसव ये जैविक घटनाएँ उसकी काम करने की क्षमता का ह्रास करने वाली साबित हुईं। ऐसे समय में उसे पूरी तरह पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता था।”<sup>4</sup>

पुरुष ने नारी की कायिक स्थिति का लाभ उठाते हुए उसे दबाकर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी। कालक्रम में नारी का कार्य प्रजनन करना, पालन, पोषण करना, गाय, भेंड़, बकरी आदि जनवरों की देखरेख तक सीमित कर दिया गया। जैसे-जैसे पुरुष सभ्यता की ओर अग्रसर होता गया, वह परिवार और समाज की प्रमुख शक्ति बन गया और नारी गौण होकर उस पर पूर्णतः आश्रित होती गई।

“आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र एवं सम्पन्न होने के कारण पुरुष ने मातृसत्तात्मक परिवार को पितृसत्तात्मक परिवार में बदल दिया और अपने उत्तराधिकारियों के बारे में निश्चित होने के लिए एक विवाह-प्रथा का प्रचलन किया। इस कारण नारी के पैरों में नैतिक बंधनों की बेड़ियों डाल दी गयीं।”<sup>5</sup> इस तरह दासप्रथा का आरम्भ हुआ “इस प्रथा के प्रचलन के कारण गृहकार्य तथा संभोग-दोनों ही क्षेत्रों में पुरुष को नारियों का स्थानापन्न सरलता से मिलने लगे। परिणमतः समाज के भीतर दोहरे नैतिक मूल्य उत्पन्न हुए।”<sup>6</sup> इतना ही नहीं नारी के प्रति पुरुष के मन में जागी अधिकार की भावना ने कालान्तर में यह प्रचारित किया कि कोमलांगी नारी का एक मात्र कार्य-क्षेत्र घर है

उसे बाहरी दुनिया के संघर्ष से दूर रहकर घर को व्यवस्थित करना चाहिए। घर चलाने के लिए दोनों की भूमिका निश्चित कर दी गई—कमाकर लाना पुरुष का काम है और उसे आवश्यकतानुसार खर्च करना तथा सहेजना—नारी का। संतानोत्पत्ति करना नारी की सार्थकता का पर्याय बन गया। काफी समय के संघर्ष के बाद धीरे-धीरे नारी ने इस नियति को दबेमन से स्वीकार कर लिया। चूँकि अधिकार की बलवती भावना के कारण पुरुष समाज में आपसी वैमनस्य, द्वेष और कलह का जन्म हुआ। इस कारण भी अन्य पुरुषों की कुदृष्टि से बचाने के लिए नारी को घर की चारदीवारी में बंद करना आवश्यक हो गया ताकि किसी शत्रु की दृष्टि नारी पर न पड़े। आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन के कारण स्त्री को घर की चहरदीवारी में कैद होना पड़ा जिससे उसका बौद्धिक विकास अवरुद्ध हो गया।

प्रायः सभी सामाजिक संस्थाओं का चरित्र पितृसत्तात्मक होता है। स्त्री की दोगम स्थिति के मूल कारणों में धर्म भी है। संसार के सारे धर्म चाहे वह हिंदू, मुस्लिम, सिख, जैन, यहूदी हों; सब में पुरुष को ही सर्वशक्तिमान बताया गया है। सृष्टि का विस्तार स्त्री के शोषण और पुरुष के वर्चस्व पर आधारित है। ब्रह्म द्वारा खुद की पुत्री का बलात्कार करना, सीता को सतीत्व की शुद्धता के लिए अग्निपरीक्षा देना, गांधारी द्वारा पातिव्रत्य धर्म की रक्षा के लिए सदैव आँखों पर पट्टी बांधना, ऐसे अनेकों उदाहरण इन धर्म ग्रंथों में मिल जाएंगे। कुरान के कतिपय वक्तव्य भी स्त्री को परंपरागत रूप से एक हीन लिंग के रूप में सीमित करते हैं। स्पष्टतः पुरुष को संबोधित करते हुए कुरान कहता है— “स्त्री तुम्हारे लिए खेत की तरह है, तुम जैसे चाहो, उसे जोतो और 11, 228 में यह भी घोषित किया गया है कि पद में पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है। ऐसे पवित्र और आसमानी शब्दों के आधार पर शेख़ अहमद सरहिंदी जैसे सूफ़ी ने घोषणा की कि खुदा ने मर्द पर मेहरबानी की है, इसलिए उसे चार शादियां करने का अधिकार है। वह तलाक़ द्वारा स्त्रियां बदल सकता है और कितनी ही रखैलें रख सकता है। खुदा ने स्त्री को सौन्दर्य बख्शा ही इसीलिए है कि पुरुष उसका उपभोग करे।”<sup>7</sup>

वैदिक काल में स्त्री-पुरुष के संबंधों में समानता थी। शिक्षा पर सबका अधिकार था। घोषा, मैत्रेयी, अपाला, लोपामुद्रा आदि अनेक विदुषियाँ हैं जिन्होंने अनेक मंत्रों की रचनाएं कीं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य की पत्नी 'मैत्रेयी' को 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया। ब्राह्मण ग्रंथों में नारी को पुरुष की तुलना में दुर्बल एवं भावुक मस्तिष्क का कहा गया और स्त्री को अधिकारविहीन बनाकर चहारदीवारी में कैद कर दिया गया। धर्मशास्त्रों में खासकर मनुस्मृति में यह व्यवस्था दी गई—

“बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्र स्वतंत्रताम्।।”<sup>8</sup> 5-148

(नारी बचपन में पिता के अधीन, यौवनावस्था में पति के अधीन और पति के देहावसान के बाद पुत्रों के अधीन रहे। कभी भी स्वतंत्र न रहे।)

“अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।

विषयेषुः च सज्जन्तयः संस्थाप्या आत्मनौ वशे।।”<sup>9</sup> 9-2

(पुरुषों को अपनी स्त्रियों को कभी भी स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए। स्त्रियाँ रूप-रसादि में आसक्त हों तो भी उन्हें अपने वश में रखना चाहिए।)

महाभारत में लिखा है—

“अग्नि के लिए लकड़ी के लट्ठे कदापि बहुत नहीं होते हैं,

महासागर के लिए नदियाँ कदापि बहुत नहीं होती हैं,

मृत्यु के लिए जीवित आत्माएं कदापि बहुत नहीं होती हैं,

और सुन्दर नेत्रवाली स्त्री के लिए मनुष्य कदापि बहुत नहीं होते हैं।”<sup>10</sup>

पद्मपुराण में लिखा है स्वार्थवश स्त्री अपने पति, पुत्र व भाई को भी मार डालती है। जैमिनी ब्राह्मण में व्यवस्था दी गई है पत्नी को पति के बाद ही भोजन करना चाहिए। कौटिल्य स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को अबूझ पहली बताते हैं। शंकराचार्य नारी को नरक का द्वार बताते हैं। इन धर्म ग्रंथों में अनेकों इस तरह के उदाहरण पटे पड़े हैं। इस तरह “शास्त्रकारों ने धर्म के नाम पर युगों-युगों से नारी का शोषण किया है। उनकी उन्नति के लिए, शोषण से मुक्ति के लिए जब भी कभी प्रयत्न किए जाते हैं, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार देने की बात की जाती है तो उन्हें यह कहकर चुप करा दिया जाता है कि भारतीय नारी तो पूजनीय है, उसे तो पुरुषों से ऊँचा स्थान प्राप्त है किंतु वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरीत है।”<sup>11</sup>

ए० एल० बाशम कहते हैं “वास्तव में स्त्रियों के प्रति प्राचीन भारतीय प्रवृत्ति रहस्यपूर्ण थी। एक ही समय में देवी तथा सेविका, एक पवित्र आत्मा तथा दुराचारिणी समझी जाती थी।”

बुद्ध काल में भी स्त्रियों की स्थिति लगभग वैसी ही रही। ‘चुल्लवग जातक’ से पता चलता है तथागत ने धम्म में स्त्रियों के प्रवेश को निषिद्ध कर रखा था। उनका पालन पोषण करने वाली प्रजापति गौतमी ने जब धर्म में प्रवेश माँगा तो उन्होंने मना कर दिया। कितनी अजीब बात है संसार को दुखों से मुक्ति का मार्ग बताने वाले बुद्ध भी स्त्री-पुरुष की भेदवादी दृष्टि से ऊपर नहीं उठ पाए। कुछ समय पश्चात् अपने प्रिय शिष्य आनंद के कहने पर बुद्ध ने गौतमी को संघ में प्रवेश दे दिया। ब्राह्मण काल में जहां स्त्रियों को संन्यास की मनाही थी वहीं बुद्ध काल में संन्यास (प्रवज्या) का अधिकार मिल गया। बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद से कहा “यदि मेरा धर्म स्त्री की अनुपस्थिति में 5000 वर्ष तक कल्मष रहित रहता तो अब मात्र 500 वर्ष में ही पतन की ओर प्रवृत्त हो जाएगा।” संघ में भिक्षुणियों के प्रवेश के लिए नियम कड़े कर दिए गए।

इन नियमों के अनुसार पुरानी भिक्षुणियों के स्थान पर नए भिक्षुओं को श्रेष्ठ बताया गया। बावजूद इसके इन भिक्षुणियों ने समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया। कुछ ने तो अत्यंत सुन्दर कविताओं की रचनाएं भी की हैं। मुक्ति की तलाश धम्म में पूरी नहीं हो सकी। इनकी रचनाओं का संकलन 'थेरीगाथा' है।

यही ग्रंथ नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला पहला ग्रंथ है। इस ग्रंथ में उस समय की नारकीय नारी स्थिति का पता चलता है।

“सुमंगल माता अपनी गाथा में कहती है—

सुमुत्तिका सुमुत्तिका, साधु मुक्तिकाहि मुसलस्स।

अहिरिको में छत्रकं वा पि, उक्खलिका में देड्डुभं वाति।।”

“अहो! मैं मुक्त नारी हूँ। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है! पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज मैं उससे मुक्त हो गई हूँ। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे (खाना पकाने के) भाँड़े-बरतन, जिनके बीच में मैली कुचैली बैठती और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों (छतरी) से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।”<sup>12</sup>

मुत्ता थेरी की गाथा इस प्रकार है—

सुमुत्ता साधुमुत्ताहि, तीहि खुज्जेहि मुत्तिया

उदुक्खलेन मुसलेन, पतिना खुज्जेकेन च।

मुत्तमिह जातिमरणा, भवनेत्ति, समूहता 'ति'।।

मैं अच्छी तरह से मुक्त हो गई हूँ। अच्छी विमुक्त हो गई हूँ। तीन टेढ़ी चीजों से मैं अच्छी तरह मुक्त हो गई हूँ। ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से,

मैं अच्छी तरह मुक्त हो गई हूँ। मैं आज.....(जाति) और मरण से भी युक्त हो गई हूँ। मेरी संसार तृष्णा ही समाप्त हो गई है।<sup>13</sup>

कालांतर में यही बौद्ध बिहार व्यभिचार का अड्डा बन गए। भिक्षुओं ने अपनी प्रज्ञा की सिद्धि के बहाने दुराचार को प्रोत्साहित किया। व्यावहारिक गृहस्थ जीवन की उपेक्षा करते हुए भिक्षुओं ने एकांतिक साधना पर बल दिया। स्त्री घृणा की शिक्षा देने वाले ये बौद्ध भिक्षुक खुद वासना के दलदल में फंस गये और नारी शुचिता पर प्रश्न लगाते रहे। वे अपनी इंद्रियों का निग्रह नहीं कर सके परिणामस्वरूप बौद्ध विहार अपनी मर्यादा से गिरते गए।

प्राचीन काल में जहां धर्म समाज को चलाता था वहीं मध्यकाल में समाज सामंतवादी शोषण से त्रस्त था। राज्य करने और विलासिता पूर्ण जीवन जीने की जैसे होड़ लगी रहती थी। अधिक बड़ा राज्य, अधिक जमीन, गुलाम और अधिक सैनिक रखने वाला ही बड़ा राजा कहलाता था। उसी तरह सर्वाधिक स्त्रियां रखना बड़प्पन माना जाता था। इन पतनशील और जड़ परिस्थितियों ने बंदिशें लगाकर स्त्री को कैद कर दिया।

“मध्ययुगीन जड़ता को बनाये रखने के लिए समाज में अनेक प्रकार के भेद किये गये थे। ऊँच-नीच का आधार धन के अलावा जन्मजात भी था। वर्णाश्रम व्यवस्था शोषण को निरंतरता प्रदान करने के लिए ही चलाई गई थी और कठोरता के साथ उसका पालन एक आवश्यक समाज व्यवस्था के रूप में कर दिया गया था।<sup>14</sup>

भारतीय पितृसत्ता की संरचना को जानने के लिए जाति, वर्ग और लिंग के अन्तर्संबंध को जानना आवश्यक है। ‘जाति’ के बने रहने की अनिवार्य शर्त है सजातीय विवाह। सजातीय विवाह से तात्पर्य अपनी ही जाति या उपजाति में ही विवाह। जाति की अवधारणा ब्राह्मणवादी ग्रंथों से ली गई है। वर्ण विभाजन का स्त्रोत सबसे पहले



‘पुरुष सूक्त’ में मिलता है। जिसमें आदि पुरुष के मुख, हाथ, पेट और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति को बताया गया है। “जाति और वर्ग के बीच के संबंध के संदर्भ में यह ध्यान में रखना जरूरी है कि भारतीय समाज में विद्यमान पदानुक्रमता के दो स्तर हैं। पहला आनुष्ठानिक शुद्धता के अनुसार, जिसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर है और शूद्र सबसे नीचे और दूसरा, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार जिसमें भूस्वामी सबसे ऊपर है और भूमिहीन श्रमिक सबसे नीचे। पहला व्यवस्था का प्रतिरूप है और दूसरा इसकी हकीकत। दोनों ने मिलकर असमानता के एक अनोखे रूप की रचना की है जिसे हम जातिव्यवस्था के रूप में जानते हैं या समझते हैं।”<sup>15</sup> इसे ब्राह्मणवादी पितृसत्ता कहा जा सकता है।

जाति व्यवस्था शक्तिशाली और शक्तिहीन दोनों की सहमति पर टिकी हुई है। बेरमैन कहते हैं— “जाति को जीने वालों के लिए जाति का मतलब है सत्ता और सत्ताहीनता, विशेषाधिकार और दमन, सम्मान और अपमान, प्रचुरता और अभाव, सुरक्षा और असुरक्षा।” दूसरे शब्दों में जाति व्यवस्था में शोषक और शोषित दोनों आंतरिक विभाजनों की वजह से इस कदर टुकड़ों में बँटे हैं कि सभी शोषित एक साथ मिलकर शोषण के विरुद्ध खड़े नहीं हो सकते। जाति, वर्ग का संबंध सत्ता पाने के लिए है। संसार में 90 प्रतिशत संसाधनों पर पुरुषों का कब्जा है। संपत्ति के मालिकों का उत्तराधिकार के अधिकार के लिए संतान की पहचान की आवश्यकता थी। पहचान से तात्पर्य कि वंश में पैदा हुई संतान उसी वंश की है। जाहिर तौर पर यह स्त्री को उसकी ‘शुद्धता’ और पवित्रता बनाये रखने के लिए एक कठोर नियंत्रण था। ऊँची—जाति की स्त्रियां जातिव्यवस्था का प्रवेशद्वार मानी जाती थीं। जाति व्यवस्था की संरचना में दलित स्त्री की दशा की चर्चा करना आवश्यक है। काँचा इलैया का मत है कि ऊँची और नीची जातियों में मूलभूत अंतर संपत्ति के अधिकार के होने न होने में है। संपत्तिहीनता की वजह से दलितों में स्त्री—पुरुष, और बच्चों सभी को श्रम करना

पड़ता है। ये बने बनाए ढाँचे ही दलित स्त्रियों के श्रम व्यवस्था में समावेशन के स्वरूप को तय करते हैं। वहीं, ऊँची जाति की स्त्रियों को केवल प्रजनन की वजह से तवज्जों दी जाती है। जिससे वे एक यौन-श्रमिक के रूप में विघटित होकर रह जाती हैं। उनके लिए शुद्धता के मानदण्डों की रक्षा करना अपरिहार्य है। दलितों के लिए श्रम ही केन्द्रीय तत्व है जिसका अवमूल्यन जाति व्यवस्था करती है। प्रश्न उठता है कि दलित स्त्री की स्थिति और गैरदलित स्त्री के पितृसत्तात्मक अनुभवों में समानताएं हैं? या भिन्नताएँ? एक मत के अनुसार जब मनुस्मृति में शूद्र और स्त्री को एक ही दायरे में रखा गया तो दोनों को एक साथ मिलकर शोषण के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए। इसके प्रतिउत्तर में कहा जाता है कि सीता और द्रौपदी रानी की हैसियत के बावजूद पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दण्ड को भोगने के लिए मजबूर हुईं। इसके विपरीत दूसरे मत वाले तर्क करते हैं कि परिवार के भीतर दोनों के शोषण में समानता हो सकती है लेकिन “दलित स्त्री एक साथ तिहरे शोषण का शिकार होती है, दलित होने की वजह से ऊँची जातियों द्वारा, दूसरा श्रमिक के रूप में भूपतियों द्वारा, और तीसरा, स्त्री के रूप में अपनी ही जाति के पुरुषों द्वारा।”<sup>16</sup>

प्राचीन भारत की वर्ण व्यवस्था ने कठोर जाति व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। इरफान हबीब लिखते हैं— “जिस प्रकार जाति व्यवस्था ने समूचे शासक वर्ग को इस अर्थ में लाभ पहुँचाया कि उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत उसे निम्न जाति के लोगों को श्रम, सेवाएं तथा वस्तुएं सस्ते रूप में उपलब्ध हुए ठीक उसी प्रकार स्त्रियों के श्रम का पारिश्रमिक भी कम कर दिया गया। वस्तुतः उक्त व्यवस्था वर्ग-विभाजन को मजबूत करती थी। इसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर समाज में निम्न वर्गों का शोषण होता था, वहीं दूसरी ओर स्त्रियों को दबाकर रखा जाता था। ये दोनों एक दूसरे के पूरक थे। धर्म ने जिस प्रकार वर्ग विभाजन को मान्यता दी, उसी प्रकार नारी शोषण को भी धार्मिक मान्यता की आवश्यकता थी, इसलिए सामाजिक संरचना में चाहे कोई पुरुष

कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो, वह अपने को अपनी स्त्री से श्रेष्ठ समझता था और स्त्री को भी अपनी यह स्थिति स्वीकार करने के लिए भगवान की मर्जी का वास्ता दिया जाता था।”<sup>17</sup>

राज्य और धर्म के वर्चस्व की लड़ाई में स्त्री अकारण पिसती रही। जिसके परिणामस्वरूप समय-समयांतर देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, जौहरप्रथा, पर्दाप्रथा आदि कुप्रथाएँ बनती और रूपांतरित होती रहीं।

‘देवदासी’ प्रथा का प्राचीनतम साक्ष्य बनारस के दक्षिण में 160 किमी. दूर विंध्याचल की पहाड़ी पर स्थित रामगढ़ की गुफा से मिलता है। देवदासी का शाब्दिक अर्थ है ‘देव की दासी’ या पत्नी’। प्राचीन काल से ही यह प्रथा हिन्दू मंदिरों में प्रचलित थी। देवदासियाँ मंदिर की देखरेख-पूजा-पाठ के लिए सामग्री संयोजन, मंदिरों में नृत्य-गायन इत्यादि करती थीं। मंदिरों के पुरोहित ईश्वर और जनता के मध्यस्थ की भूमिका में होते थे और इनका असर उस समय समाज और जनता पर अधिक था। ऐसा माना जाता था कि इन्हें मंदिरों में चढ़ा देने से कोई दैवीय कष्ट नहीं होगा। कुलीन घरों की लड़कियां बड़े गर्व के साथ मंदिर को अर्पित कर दी जाती थीं। जब मंदिरों की सम्पन्नता में वृद्धि होने लगी तो पुरोहितों में सांसारिक भोग-विलास के प्रति सम्मोहन बढ़ा और वहाँ का वातावरण दूषित हो गया। वे देवदासियां, पुजारी, सहायक पुजारियों, प्रभावशाली अधिकारियों, सामंतों एवं कुलीन लोगों के साथ संभोग करती थीं; परन्तु उनका दर्जा वेश्यों वाला नहीं था भारत में सबसे पहले देवदासी प्रथा के अन्तर्गत धर्म के नाम पर औरतों के यौन शोषण को संस्थागत रूप दिया गया था। यह कुप्रथा उत्तर भारत में कम दक्षिण भारत के महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु में अधिक प्रचलित थी। कर्नाटक के बेलगाम जिले में स्थित ‘येल्लमा देवी’ के मंदिर में हर वर्ष माघी पूर्णिमा के दिन किशोरियों को देवदासी बनाया जाता है। देवदासियों को अतीत की बात मान लेना गलत होगा। दक्षिण भारत के मंदिरों में किसी न किसी रूप में

आज भी उनका अस्तित्व है। कर्नाटक सरकार ने 1982 में तथा आंध्रप्रदेश सरकार ने 1988 में इस प्रथा को प्रतिबंधित कर दिया।

वेश्यावृत्ति की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन काल में ये वेश्या अथवा गणिकाएं होती थीं। इनमें से तो कुछ निर्धन तथा साधारण होती थीं और कुछ सुन्दर, धनी तथा 64 काम कलाओं में निपुण होती थीं। बौद्ध काल में वैशाली की प्रसिद्ध वेश्या 'अम्बपाली' थी जिसका बड़ा मान सम्मान था। वेश्याओं की सुरक्षा और रखरखाव-राज्य द्वारा की जाती थी। क्योंकि इससे कर, राज्य के संचालन में कहीं-कहीं गुप्तचर की भूमिका में भी उपयोग में लाया जाता था। मध्यकाल में अकबर ने वेश्याओं के रहने के लिए शहर से बाहर एक स्थान दिया जिसे 'शैतानपुरी' कहा गया।

मुस्लिम आक्रांताओं के भारत में प्रवेश के पूर्व पर्दाप्रथा का अभाव था हिन्दू स्त्रियाँ केवल घूँघट के द्वारा ही अपना मुँह ढँकती थीं। मुस्लिम संस्कृति के फलस्वरूप पर्दा प्रथा मुस्लिमों के साथ हिन्दुओं में भी कठोर हो गई बदायूनी मुस्लिम औरतों के बारे में लिखता है— “यदि कोई युवती बिना बुरका अथवा बिना पर्दा किये हुए सड़कों एवं बजारों में पायी जाती थी तो उसको वेश्यालय में भेज दिया जाता था, जहाँ वह वेश्या के पेशे को ग्रहण कर लिया करती थी।”<sup>18</sup>

हिन्दुओं में पर्दा प्रथा का कठोरता से पालन करवाये जाने के पीछे उन मुस्लिम आक्रांताओं से अपनी रक्त की शुद्धता और सम्मान को बचाया जाना था।

जौहर प्रथा विशेष रूप से राजपूतों में प्रचलित थी। युद्ध में राजपूतों के हारने की अवस्था में स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए खुद को अग्नि की ज्वाला में डालकर इहलीला समाप्त कर लेती थीं। उनकी इस सामूहिक आत्महत्या को शास्त्रों के

द्वारा सहमति मिलती थी। शास्त्र और समाज उन्हें सती, देवी इत्यादि का हवाला देकर महिमा मण्डित करता था। इसी तरह सती प्रथा की विद्रूपताएं भी हमारे समक्ष आती हैं। सती प्रथा का तात्पर्य पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी द्वारा पति की चिता पर बैठकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेना। शास्त्रों द्वारा सती को भी महिमामण्डित किया गया। और उन्हें स्वर्ग का झाँसा देकर इसके लिए मजबूर किया गया। सती होने के लिए एक अनुष्ठान किया जाता था, कभी कोई स्त्री खुद सती होने के लिए तैयार हो जाती थी, कभी नहीं। तैयार न होने की स्थिति में उन्हें नशीला पदार्थ खिलाया जाता था। चिता में जलने पर भयंकर चीत्कार और असहनीय पीड़ा को जनता से छिपाने के लिए भयंकर वाद्ययंत्रों की गर्जना की जाती थी। इस प्रकार अन्य कुप्रथाएं बाल विवाह, बहुविवाह, दहेज प्रथा इत्यादि सामाजिक बुराइयाँ समाज में व्याप्त थीं।

मध्य युग की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के साथ धर्म सम्प्रदायों ने भी नारी के शोषण को बढ़ावा देकर उन्हें भयंकर त्रासद जीवन जीने पर मजबूर किया। इन संप्रदायों में कापालिक संप्रदाय, सहज संप्रदाय, कौलमार्गी, वज्रयानी, इत्यादि थे। इन सभी ने महासुख की खोज में नारी को भोग की वस्तु बना दिया और सारी मुक्ति इसी के द्वारा साधने का प्रयास किया। सामंती शासन, वर्णव्यवस्था और कठमुल्लेपन के विरोधी और जीवन भर सहजता समानता का राग अलापने वाले कबीर ने नारी को 'महाठगिनी' ही बताया। उन्होंने उस संत परंपरा का अनुसरण करते हुए कहा—

नारी की झाँई पड़त अंधा होत भुजंग ।

कबिरा तिनकी कौन गति जे नित नारी संग ॥

लेकिन यही कबीर जब परमात्मा के प्रति अपने एकनिष्ठ और समर्पण को व्यक्त करते हैं तो नारी भाव का ही आश्रय लेते हैं और कहते हैं 'हरि मोर पिऊ मैं राम की बहुरिया'। ऐसा लगता है जैसे पुरुषत्व आत्मा और परमात्मा के निश्छल प्रेम को व्यक्त

करने में असमर्थ हो गया। रामराज्य की स्थापना करने वाले तुलसीदास भी कह उठते हैं—ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी। वहीं सूरदास अपने कन्हैया की, बाललीला, रासलीला को अद्भुत ढंग से पेश करते हैं। तुलसी के राम राजा हैं और सूर के कृष्ण नौ लाख गायों के स्वामी। दोनों सामंत हैं एक परंपरागत सामंती शासन के राजा हैं तो दूसरे गोप संस्कृति के रक्षक। दोनों ही अपनी परंपरा और परिवार की नैतिकता के प्रति सजग हैं। पूरे मध्यकाल में मीरा स्त्री अस्मिता की सबसे बड़ी हस्ताक्षर हैं। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और पारिवारिक मान्यताओं को नकारते हुए स्वतंत्रता का चयन किया। विवाह के सात-आठ वर्षों बाद ही वैद्यत्य मिल जाने से बड़ी पीड़ा कुछ और नहीं हो सकती। उनके समक्ष दो ही विकल्प थे या वे अपने पति भोजराज के शव के साथ सती हो जाएँ या फिर विधवाओं की तरह अमानवीय जीवन जिएं। दोनों ही स्थितियाँ असह्य थीं। उन्होंने स्त्री के लिए बनायी गयी झूठी मर्यादा और परंपरा को त्याग कर ईश्वर की शरण ले ली। क्योंकि ईश्वर की दृष्टि में वह निष्पाप है।

लोक जाल कुलकाण जगत की, दी बहाय ज्युं पांणी।

अपने घर का परदा कर लौं, मैं अबला बौरांणी।।<sup>19</sup>

उनका यह साहस मध्यकाल की परिस्थितियों के अनुसार अद्भुत है। वे आज की स्त्रियों के लिए प्रेरणास्रोत हैं। “हताशा के गर्भ के फूटता स्त्री का विद्रोह और स्त्री के मनुष्यत्व की रक्षा के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्वरूप की पुनर्संरचना। मीरा का यह विद्रोह स्त्रियों की पड़ताल करने की नैतिक जवाब देही है जो ‘अबला’ कही जाने वाली निरीह-पराश्रित स्त्री को ‘बौराने’ और आक्रामक होने को विवश करती है।”<sup>20</sup> उनका बौराना उच्छृंखलता की मांग नहीं बल्कि स्त्री के ‘स्वत्व’ की सुरक्षा और सम्मान की पुकार है।

मीरा को धार्मिकता से मुक्त करके देखा जाय तो पता चलेगा कि कृष्ण में वे अपने लोकतांत्रिक मूल्यों वाले पति को देख रही थीं; जो राणा जैसा क्रूर, अमानवीय नहीं है। 'ऐसे वर को क्या करूँ जो जन्मे और मर जाए'—मीरा सही मायने में अविनाशी पुरुष की कामना नहीं कर रहीं, वह संबंध को जीवन—मरण से युक्त कर नित्य और नवीन कर देना चाहती हैं। वो संबंधों में स्पेस चाहती हैं उनसे मुक्ति नहीं। वह इन नौतिक मर्यादाओं एवं वर्जनाओं से मुक्ति चाहती हैं लेकिन दैहिक स्वतंत्रता के स्तर तक नहीं। वे परिवार को बचाने की बात कर रही हैं, उसे तोड़ने की नहीं। रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं— "मीरा आरोपित विवाह संबंध को अस्वीकार कर स्त्री द्वारा स्वयं पति रूप में पुरुष का वरण करने की स्वतंत्रता की पक्षधर है। विवाह संस्था स्त्री की देह पर की जानेवाली द्विपक्षीय संधि नहीं, न ही प्रतिशोध और प्रतिकार की अमानुषिकता। विवाह संबंध देह का कामुक खेल या कुलवृद्धि का शुष्क दायित्व नहीं, जीवन सहचर पाने की अनुराग भरी प्रक्रिया है।"<sup>21</sup> मीरा को उनके युग के संदर्भों में रखकर देखना चाहिए। उनकी विषम परिस्थितियों से लड़ने का साहस, सामाजिक वर्जनाओं से लड़ने की शक्ति आज की स्त्री के लिए प्रेरणास्रोत है।

## (ख) राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में स्त्री मुक्ति और अस्मिता का विकास

‘पुनर्जागरण’ का शाब्दिक अर्थ है ‘फिर से जागना’। चौदहवीं से सत्रहवीं सदी के बीच यूरोप में जो सांस्कृतिक प्रगति हुई उसे पुनर्जागरण कहा जाता है। इसके परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नई चेतना आई, नये प्रयोग हुए। धर्मवाद के स्थान पर मानववाद को प्रतिष्ठित किया गया। साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, वाणिज्य और राजनीति पर से धर्म का एकाधिकार समाप्त हो गया और यूरोप में मध्यकाल के समाप्ति की घोषणा कर दी गई। भारत में पुनर्जागरण की शुरुआत 19वीं शताब्दी में होती है जब अंग्रेजों ने भारत में अपने पैर मजबूत कर लिये थे और 1813 के बाद से भारतीय सामाजिक संरचना में हस्तक्षेप करने लगते हैं। विपिन चंद्रा लिखते हैं— “ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार और उसके साथ औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के प्रचार-प्रसार की प्रतिक्रिया में ही यह लहर उठती शुरू हुई थी। बाहरी संस्कृति के फैलाव से हालांकि औपनिवेशिक संस्कृति के खिलाफ यह प्रतिक्रिया हर जगह और हर समाज में अलग-अलग तरह की हुई, लेकिन यह बात हर जगह शिद्दत के साथ महसूस की गई कि सामाजिक-धार्मिक जीवन में सुधार अब जरूरी हो गया है। सुधार की इस प्रक्रिया को नवजागरण कहा जाता है।”<sup>22</sup> नवजागरण का आशय है वह दृष्टिकोण जिसके लिए मानवता, इहलौकिकता, तार्किकता, वैज्ञानिकता, समानता, आत्मान्वेषण, राष्ट्रीयता, स्वाधीनता आदि मूल्य अधिक महत्वपूर्ण हैं। भारत में पुनर्जागरण के अगुआ राजाराम मोहन राय हैं। जिन्होंने सामाजिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष समानता के लिए व्यावहारिक प्रयत्न किये। धर्म के क्षेत्र में मूर्तिपूजा जैसे अतार्किक आस्था पर दयानंद सरस्वती ने प्रश्न उठाये। चिंतन एवं दर्शन के क्षेत्र में परलौकिक चीजों को हाशिये पर डालकर इहलौकिकता की प्रतिष्ठा हुई। ईश्वर के स्थान पर अब मनुष्य केन्द्र में आ गया। इन्हीं तत्वों के आधार पर नवजागरण का वातावरण तैयार हुआ। यूरोप के रेनेसाँ और भारत के पुनर्जागरण को एक नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों की परिस्थितियाँ अलग थीं। भगवती प्रसाद वर्मा कहते हैं— “नवजागरण का



शाब्दिक अर्थ है नयी चेतना अर्थात् एक ऐसी चेतना जो इससे पूर्व कभी इतिहास में आयी नहीं थी क्योंकि नवजागरण के इस युग की परिस्थितियाँ पहले से गुणात्मक रूप में एकदम भिन्न थीं। इसलिए पुनर्जागरण की जगह रेनेसाँ के पर्याय के रूप में नवजागरण शब्द प्रयुक्त किया जाता है। नवजागरण शब्द का हिन्दी में इस अर्थ में पहली बार प्रयोग करने का श्रेय रामविलास शर्मा को है जिन्होंने 1977 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में नवजागरण शब्द की परिकल्पना प्रस्तुत की थी। यह शब्द उन्होंने अंग्रेजी शब्द रेनेसाँ के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया।<sup>23</sup> हर युग का रचनाकार अपने देशकाल की अभिव्यक्ति करता है। हर साहित्यकार ने अपने समय में उपनिवेशवाद का विरोध किया है।

हिन्दी साहित्य में आलोचकों ने औपनिवेशिकता को तीन प्रकार से देखा और समझा है। इसमें पहले हैं डॉ० रामविलास शर्मा जिन्होंने मध्यकाल के सामंतवाद विरोध और आधुनिक काल के साम्राज्य विरोध को एक साथ जोड़कर देखा। प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसे पूरब और पश्चिम की सांस्कृतिक टकराहट के रूप में देखते हैं और इसे विरुद्धों का सामंजस्य कहते हैं। निर्मल वर्मा औपनिवेशिकता को 'खण्डित चेतना' को जमा देने वाली परिघटना के रूप में देखते हैं। रामचंद्र तिवारी के शब्दों में— "आधुनिक नवजागरण के साथ ही नारियों को शिक्षित करने और समाज में उन्हें उचित सम्मान प्रदान करने की भावना का उन्मेष हुआ था।"<sup>24</sup> नवजागरण को सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में साहित्यिक अभिव्यक्ति मिली। शिक्षा प्रचार और खासकर राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद शिक्षित बहनों में स्वाभिमान की भावना जागी और उन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान हुआ।

नारी मुक्ति चेतना और नारी मुक्ति आन्दोलन के इतिहास की शुरुआत अमेरिकी क्रांति के दौरान अविगेल एडम्स और मर्सी वारेन द्वारा चलाये गये आंदोलनों से होती है जिसमें मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार के साथ ही सामाजिक सामनता की माँग की गयी थी। फ्रांसिसी क्रांति के दौरान ओलिगा द माउजेए द्वारा 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत पत्र स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा से मानी

---

जाती है। वहीं आधुनिक नारीवाद के विकास का पहला मील का पत्थर 1946 में प्रकाशित 'सिमोन द बोउवा' की कृति 'द सेकेंड सेक्स' को माना जाता है। साठ के दशक में पश्चिमी दुनिया में पुरुष वर्चस्ववाद की सामाजिक सत्ता और संस्कृति के खिलाफ उठ खड़े हुए स्त्रियों के प्रबल आन्दोलन नारीवादी आन्दोलन के रूप में जाना जाने लगा। स्त्री-विमर्श का दर्शन वास्तव में स्त्री-मुक्ति से संबंधित है। यह मुक्ति मानसिक और भौतिक एक साथ होनी चाहिए। मानसिक मुक्ति ही सांस्कृतिक मुक्ति दिला सकता है।

हिंदी में नवजागरण के जनक कहे जाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नजरिया पुत्र-पुत्री को लेकर भेद-भाववादी है, जिसे बलिया वाले भाषण 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' में देखा जा सकता है। बलिया वाले भाषण में भारतेन्दु ने स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा का विरोध करते हुए कहा— "लड़कियों को भी पढ़ाइये, किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है।" ..... ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।" स्त्री शिक्षा संबंधी ऐसे ही विचार उनके नाटक नील देवी की भूमिका में भी मिलते हैं।<sup>25</sup> भारतीय नवजागरण में स्त्री-मुक्ति के संदर्भ में राजाराम मोहन राय के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता, जिनके प्रयास से बेंटिक द्वारा 1829 में सतीप्रथा को समाप्त कर दिया गया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। सन् 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम को वैध घोषित कर दिया गया। स्त्री शिक्षा के लिए डी०के० कर्वे ने 1906 में बंबई में 'भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय' की स्थापना की।

हकीकत तो यह है कि भारतीय समाज में नारी को भोग्या और दोग्यम दर्जे का नागरिक समझा गया है। सभी शास्त्र और चिंतन पुरुषवादी मानसिकता से प्रेरित हैं जो स्त्री और दलित की गुलामी और जकड़बंदियों के लिए तैयार किये गये हैं। हिन्दू स्त्री और मुसलमान स्त्री दोनों की स्थिति एक सी है। मनु स्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया कि स्त्रियों को किसी तरह की स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। किन्तु आज की

---

स्त्री ने अपनी स्थिति को जाना-पहचाना है। भारतीय नवजागरण में स्त्री मुक्ति की भी बात आयी है।

सही बात तो यह है कि इसाईयत के प्रभाव से बचने के लिए भारत के हिंदू और मुसलमान दोनों अपने-अपने धर्मों की पुर्नव्याख्या में लग गये। अंग्रेजों को भारत में राज करना था, अपने को श्रेष्ठ बताना था जिसके लिए उन्होंने 'फूट डालो और राज करो' की नीति का पालन किया। फूट की राजनीति आधुनिक समय में सबसे पहले बंग-भंग से होती है और 1909 में मार्ले-मिण्टो तथा भारत-पाक दो राष्ट्रों के निर्माण पर जाकर खत्म होती है। हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी अस्मिताएँ तलाश करने लगते हैं।

“नवजागरण आन्दोलन का दूसरा चरण जहाँ पुररुत्थानवादी शक्तियाँ सक्रियतर होते-होते सामंतवादी मानसिकता से संयुक्त ब्राह्मणवादी चरित्र गढ़ने लगती है। 19वीं सदी का समाज सुधार आंदोलन सामाजिक-राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा में मानवीय मुक्ति का पैरोकार रहा है। स्त्री मुक्ति के बिना वह अपना मिशन सफल नहीं मानता, इसलिए पहली बार हिंदू धर्म की बुनियादी स्थापनाओं को चुनौती देकर, विवाह, परिवार, समाज जैसी अहम संस्थाओं के स्वरूप में क्रांतिकारी परिवर्तन की माँग की जाने लगी थी और शिक्षा, सम्पत्ति, आर्थिक स्वावलंबन जैसे मूलभूत आवश्यकताओं को 'भोंदू मांसपिंड' समझी जाने वाली स्त्रियों तक ले जाने की वैचारिक प्रतिबद्धता बढ़ी।”<sup>26</sup>

स्त्री शिक्षा के संदर्भ में 'देवरानी जेठानी की कहानी' में भी देखा जा सकता है। कहानीकार कहानी में लिखता है कि— “मैं तुमसे उसी दिन प्रसन्न हूँगा जब मैं यह सुनूँगा कि तुम्हारी सुसराल वाले तुमसे प्रसन्न हैं। तुम्हारा पढ़ना लिखना उसी दिन काम चलेगा। जब तुम अपनी सास की आज्ञा में रहोगी। .... अपने धर्म-कर्म पर चलना, ईश्वर को याद रखना। आये गये का आदर-सम्मान करना, यह अच्छे कुल की बेटियों के धर्म हैं।”<sup>27</sup>

जहाँ पुरुष के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए साहित्य रचा जाने लगा था वहीं स्त्री की अस्मिता को दबाया जा रहा था। एक अज्ञात हिन्दू महिला लेखिका अपनी रचना 'सीमान्तनी उपदेश' में लिखती है कि— "बस तुम्हारे इस धर्म करने से तुम्हारे पति अधर्म करते हैं। जब वे किसी गैर स्त्री के पास जाते हैं या उसे घर में ले आते हैं तुम उस वक्त इस धर्म के वाइस बोल नहीं सकती क्योंकि खांविंद के खिलाफ न बोलना ही धर्म है ..... जब वे किसी औरत के पास जावें तुम कहो हम भी दूसरे मर्द के पास जावेंगी। अगर किसी लौंडे रंडी को घर में लाये तुम फौरन शादी तोड़ दो।"<sup>28</sup> वास्तव में आधुनिक भारत को देखने पर यह मालूम होता है कि यहाँ स्त्री को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। भारतीय पुनर्जागरण में स्त्री का कार्यक्षेत्र घर एवं परिवार तक सीमित रहा।

रोहिणी अग्रवाल कहती हैं— "भारतीय नवजागरण आंदोलन का मूल चरित्र सेकुलर नहीं है। मुस्लिम आक्रांताओं और अंग्रेज आकाओं के बीच उनका हिंदुत्व पुराने दर्प और शानो-शौकत के साथ सिर उठाने और विधर्मी का सिर कुचलने को मचलता रहता है। बेशक आत्मसाक्षात्कार की ईमानदार प्रक्रिया में वह धर्म के भीतर सन्निहित दुर्बलताओं और जड़ताओं को देख क्षुब्ध हैं और उन्हें दूर करने को कटिबद्ध भी।"<sup>29</sup> बंगाल में ब्रह्मसमाजी केशवचन्द्र सेन भी भाषण-लेखन के बावजूद अपनी कम उम्र की पुत्री की शादी सारे कर्मकाण्डों के साथ अवयस्क महाराज कूच बिहार से कर देते हैं। विधवा विवाह के समर्थक रानाडे की हिम्मत नहीं पड़ी कि किसी विधवा से विवाह कर लें। वे भी एक कम उम्र की लड़की से बाल-विवाह कर लेते हैं।

ब्रह्म-समाज के सामाजिक आन्दोलन का एक पक्ष नारियों की बन्धन मुक्ति के भी सम्बद्ध है। राष्ट्रीय जागरण और आत्मचेतना को उद्बुध करने में आर्य-समाज ने स्तुत्य प्रयास किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मानना था कि— "लड़कियों की शिक्षा का चरित्र लड़कों की शिक्षा से भिन्न होना चाहिए।..... हिंदू लड़की को हिंदू लड़कों से भिन्न प्रकृति के कार्य करने होते हैं। अतः मैं उस व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करूँगा जो उन्हें उनके राष्ट्रीय चारित्रिक गुणों से वंचित कर दे। हम अपनी लड़कियों को ऐसी

शिक्षा देंगे जो उनकी सोच को बदल दे।”<sup>30</sup> दयानंद का विधवा-विवाह की जगह नियोग वाला सिद्धांत स्त्री-पुरुष को अपने लिए तथा अन्यो के लिए भी दो-दो बच्चे पैदा करने तथा स्त्री को 11वें पुरुष तक, पुरुष को 11वीं स्त्री तक नियोग करने की अनुमति कैसी दुर्दशा करेगा? की कल्पना करना कठिन है।

बालकृष्ण भट्ट का कहना है कि— “बाबू साहब आर्य समाजी और ब्रह्मसमाजी हैं और थियोसॉफी में अक्विल दर्जा कायम करते हैं, घर में बहू जी भूतपूजनी समाज की प्रेसीडेन्ट हैं। बाहर पंडित जी साहब विधवा विवाह, बाल विवाह, समाज संशोधन पर जोश-खरोश में भरे नए-नए लेक्चर झाड़ा करते हैं, घर में पंडित साहब के पाँच वर्ष की कन्या है। पंडिताइन को पानी नहीं पचता। कन्या पाँच वर्ष की हो गई, सगाई कहीं पक्की अब तक न हुई।”<sup>31</sup> इस तरह के अन्तर्विरोध खुलकर सामने आते हैं।

“राष्ट्रवादियों को महिलाओं की मुक्ति तथा उत्थान से कोई सरोकार नहीं था। इसके विपरीत महिलाओं की पत्नी, पुत्री और माँ की भूमिकाओं की और पुष्टि हुई, केवल राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकताओं को देखते हुए उसे थोड़ा बहुत विस्तार मिल गया। राष्ट्रवादियों ने महिलाओं की भूमिकायें और सीमायें पहले ही तय कर दी थीं और महिलाओं को उन सीमाओं को लाँघने की अनुमति नहीं थी। इस तरह पारंपरिक इतिहास में महिलाओं की संख्या थोड़ी बढ़ गई। राष्ट्रीयता के इतिहास में महिलाओं का योगदान केवल उनकी पारंपरिक भूमिका का विस्तार मात्र है।”<sup>32</sup>

निर्मल वर्मा लिखते हैं— “यूरोप ने भारतीय चेतना में जो दरार उत्पन्न की थी— एक हिस्सा परंपरा में डूबा हुआ था और दूसरा अपने को यूरोपीय मनुष्य की छवि में ढालने में लीन— उसने एक ऐसी आत्महत्या को जन्म दिया जो हिंदू परंपरावादियों और नव्य हिन्दुओं— दोनों के अंतःकरण को कुतरने लगी। परंपरावादी अपने को यूरोपियों के विरुद्ध स्थापित करना चाहते थे अपने अतीत को आदर्शकृत करके, इसके लिए भले ही उन्हें अपने इतिहास के कुछ अंशों का मिथ्याकरण करना पड़ा हो।”<sup>33</sup> स्त्री गीता को गले लगाये, मानस मन में बिठाये, कुरान कलेजे से चिपकाये, बाइबिल वक्ष में बिठाये

स्वर्ग और जन्नत की राह देखती रहती है और शोषण का शिकार भी होती है। साथ ही शोषण में भी शरीक होती है, जिसकी परिणति पुरुष-वर्चस्व बना रहता है जबकि जरूरत है ऐसे सभी चिन्हों, मुहावरों, लोकोक्तियों, गालियों, मिथकों, शास्त्रों, धर्म-ग्रंथों, क्लैसिक को मिटा देने की, जो भेदकारी हो, स्त्री-पुरुष के मध्य भेदभाव तैयार करते हों और साथ ही एक नई भाषा तथा व्याकरण के गढ़ने की भी महती जरूरत है।

“हिंदू समाज ने उसे अपनी प्राचीन गौरवगाथा का प्रदर्शन मात्र बनाकर रख छोड़ा है और वह भी मूक निरीह भाव से उसको वहन करती जा रही है। शताब्दियाँ पर शताब्दियाँ बीतती चली जा रही है, समय की लहरों में परिवर्तन पर परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितियाँ बदल रही हैं, परन्तु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा।”<sup>34</sup> नव्य हिंदूवादियों ने स्त्री के अधिकारों को सीमित करने के लिए ‘राष्ट्रमाता’ का मिथक गढ़ दिया जो प्राचीन काल के ‘देवी’ के जैसा ही था।

“राष्ट्रवाद द्वारा प्रस्तावित नयी पितृसत्ता ने स्त्री को नयी सामाजिक जिम्मेदारियों का गौरव प्रदान किया। राष्ट्रवादी लक्ष्य से जोड़कर स्त्रियों को, सर्वथा नए किन्तु वैध मातहती के संबंध में बाँध दिया। राष्ट्रवादी अभियान के नेतृत्व में नये मध्यम वर्गों के उदय के साथ देशी साहित्य में स्त्री को राष्ट्र का प्रतीक बना दिये जाने के उपक्रम परिलक्षित होते हैं। देवी या माँ के रूप में परिकल्पित राष्ट्र की स्त्री छवि ने घर के बाहर की दुनिया में स्त्री की यौनिकता को मिटाने का काम किया।”<sup>35</sup>

भारतीय स्त्री की स्वतंत्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए परिवार, समाज, राष्ट्र के मान-सम्मान और गरिमा हेतु अनेक पुरुष व महिला कथाकार ने अपने साहित्य द्वारा जो बीणा उठाया है वह अविस्मरणीय है। उन्होंने अपने शब्दों द्वारा स्त्रीत्व की गरिमा को ऊँचाई दी।

“अस्मि अर्थात् मैं हूँ। अस्मि की भाववाचक संज्ञा ‘अस्मिता’ है। यह स्वत्व का बोध है, आत्मनिर्णय और आत्माभिव्यक्ति का प्रश्न है जो किसी को व्यक्ति बनाता है।

कोऽहं का उत्तर खोजने के अर्थ में हम अपनी छवि निर्धारित करते हैं और अपने कर्मों का चुनाव भी। अस्मि का भाव अन्यता और सामान्यता को एक साथ समेटता है। यानी जो हम हैं, और जो हम नहीं हैं का एक बोध अस्मिता की पहचान कराता है।<sup>36</sup>

पूरे नवजागरण में बौद्धिक स्तर पर पितृसत्ता को ज्योतिबा फूले, पंडिता रमाबाई 'हिंदू स्त्री का जीवन', अज्ञात हिंदू औरत 'सीमान्तनी उपदेश', दुखिनी बाला 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, ताराबाई शिंदे 'स्त्री-पुरुष तुलना', रखमा बाई आदि के अलावा किसी ने भी गंभीर चुनौती नहीं पेश की।

स्त्रियों के विषय में जो भी धारणा पुरुषों में व्याप्त थी वह हैरानी पैदा कर देने वाली है। "जब परमेश्वर ने इनको पैदा किया तो सब इन्द्रियाँ मर्दों के बराबर दीं। यह कुछ बात नहीं कि एक खाविंद मर जाये तो साथ सब इन्द्रियाँ अपना असर छोड़ दें। जब तक देह में दम है ये जरूर वक्त पर अपना असर करेंगी। ऐसा कोई दुनिया में पैदा नहीं हुआ है जिसने इनके फैलाव को रोका हो।"<sup>37</sup>

समाज में किस तरह पति की मृत्यु हो जाने पर उनकी दुर्दशा होती है उसे निम्न तथ्य से स्पष्ट किया जा सकता है— "अपनी पत्नियों की मृत्यु के उपरांत अपने मुख पर कालिख पोतकर, दाढ़ी-मूँछ मुंडवाकर अरण्यवास क्यों नहीं स्वीकारते? तुम तो पहली की मृत्यु के पश्चात् दसवें ही दिन दूसरी को ब्याहकर लाते हो। बताओ भी कि कौन से ईश्वर ने तुम्हें ऐसी सलाह दी? जैसा स्त्री वैसा ही पुरुष। तुममें ऐसे कौन से अलौकिक गुण विद्यमान हैं?"<sup>38</sup>

भारतीय समाज में कई तरह की विडंबनाएँ व्याप्त थीं। इन विडंबनाओं को दूर करने में कई तरह की समस्यायें सामने आ रही थीं। एक पक्ष इसमें सुधार चाहता था तो दूसरा पक्ष इसे सहन नहीं कर पा रहा था। इस संदर्भ में कहा गया है कि— "अन्तर्जातीय विवाह बेहद तीखे द्वंद्व का मुद्दा था। हिंदू एकता कई तरह की कृत्रिमताओं पर टिकी हुई थी जो कभी भी डावाँडोल हो सकती थी। इसके अलावा, तमाम नियमों के बावजूद कुछ मध्यवर्गीय महिलायें अपनी रोजाना खुशी के लिए नये

मौके निकाल रही थीं या फिर पुराने मौकों में ही रास्ता ढूँढ रही थीं। इस प्रकार अपने तरीके से वे पितृसत्ता के नियंत्रण में सेंध लगा रही थीं। कुछ महिलाओं, विशेषकर कई निम्न जातीय स्त्रियों, विधवाओं और वेश्याओं ने सभ्यता के नये ढाँचे को ठुकराया।<sup>39</sup>

“औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदू नवजागरण सुधारकों और विचारकों के लिए महिलाओं की शिक्षा का सवाल प्रमुख था। ..... बेहतर पत्नी और माँ के निर्माण में मदद करने के लिए महिला शिक्षा एक मध्यवर्गीय हिंदू पहचान और सभ्यता निर्मित करने वाले एक नैतिक कर्म के रूप में सामने आयी। स्त्री शिक्षा एक राष्ट्रीय निवेश था, जिसका मकसद उन्हें एक अच्छी गृहणी और अपने विवाहित जीवन में एक उत्तम और ज्ञानवान सहचरी बनाना था।<sup>40</sup>

नवजागरण के समय ज्योतिबा फूले अकेले व्यक्तित्व हैं जिन्होंने शिक्षा के वर्गीय चरित्र को समझा और शिक्षा को अभिजात्य वर्ग के बीच से निकालकर निम्न वर्गों तक पहुँचाया। निम्न वर्ग की लड़कियों को पढ़ाने के लिए जब कोई कुलीन महिला तैयार नहीं हुई तो उन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई को शिक्षित किया। यही सावित्री बाई देश की पहली अध्यापिका बनीं।

स्त्री एवं दलित की लड़ाई साझा है, अतः उन्हें एक संयुक्त मोर्चा बनाकर लड़ना चाहिए। किन्तु होता यह है कि सवर्ण पुरुष द्वारा दलित के साथ किये गये भेदभाव में सवर्ण स्त्री बराबर की हिस्सेदार हैं किन्तु जब वही अमानवीय भेदभाव का हथियार पुरुष उसी (सवर्ण) स्त्री के खिलाफ इस्तेमाल करता है तब वह चीखती है, बराबरी की माँग करती है।

राजेन्द्र यादव का कहना है— “भारतीय वर्ण—व्यवस्था में आप कहीं भी क्यों न हों, औरत को सेक्स और शूद्र को जाति बताकर चुटकियों में उसे उसकी जमीन दिखाई जा सकती है। वर्ण—व्यवस्था न चुनाव का अधिकार देती है न बराबरी का..... शरीर धारण करते ही समाज में आपकी जगह तय है और इसे आप बदल नहीं सकते... .. यह जगह आपके जन्म से पहले तय की जा चुकी है। आपके पिछले जन्मों के कर्मों



ने तय कर दिया था कि आपको किस जाति या देह में जन्म लेना है। गैर बराबरी की ऐसी विकल्पहीन दार्शनिक पुख्तगी शायद ही दुनिया के किसी समाज में दी गई हो।<sup>41</sup> दलित स्त्री तो दलितों में भी दलित है। वह दोहरे-तिहरे शोषण का शिकार है। दलित स्त्री की लड़ाई गैरदलित स्त्री से कहीं ज्यादा कठिन है।

“अग्नि में बैठकर अपने आपको पतिव्रता प्रमाणित करने वाली स्फटिक सी स्वच्छ सीता में नारी के अनंत युगों की वेदना साकार हो गयी। ..... मनुष्य की साधारण दुर्बलता से युक्त दीन माता का वध करते हुए न पराक्रमी परशुराम का हृदय पिघला, न मनुष्यता की असाधारण गरिमा से गुरु सीता को पृथ्वी में समाहित करते हुए राम का हृदय विदीर्ण हुआ। मानो पुरुष समाज के निकट दोनों जीवनों का एक ही मूल्य था। एक जीवित व्यक्ति का इतना कठोर त्याग, इतना निर्मम बलिदान, दूसरा हृदयवान व्यक्ति इतने अकातर भाव से स्वीकार कर सकता है, यह कल्पना भी क्लेश देती है, वास्तविकता का तो कहना ही क्या!”<sup>42</sup>

भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष असमानता को दूर करने का सार्थक प्रयास डॉ० अम्बेडकर ने संविधान के जरिये करना चाहा। उनका मानना था कि इसाई और मुस्लिम समुदायों की तरह हिंदू समाज के लिए पर्सनल लॉ की आवश्यकता है। उन्होंने खासतौर पर हिन्दू महिलाओं के हक में ‘हिन्दू कोड बिल’ की अवधारणा को व्यक्त किया। इसमें हिन्दू विवाह अधिनियम, विशेष विवाह अधिनियम, गोद लेना (दत्तक ग्रहण) अधिनियम, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, निर्बल तथा साधनहीन अधिनियम, उत्तराधिकार अधिनियम, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम आदि कानून थे। यह बिल महिला हितों की रक्षा करने वाला तथा भारतीय कानून इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके विरोध में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपने इस्तीफे की धमकी भी दे डाली। अंततः संशोधनों के साथ यह बिल पास हुआ। आज स्त्री की स्वतंत्रता के लिए यह बिल मील का पत्थर साबित हुआ।

अतः सारी नारियों को एक मानकर उनके विषय में एक जैसा सोचा नहीं जा सकता। यही कारण है कि औपनिवेशिक भारत में भारत मुक्ति के साथ ही साथ स्त्री तथा दलित स्त्री-मुक्ति के प्रश्न भी विद्यमान हैं। इस प्रकार आधुनिक युग में स्वतंत्रता के पश्चात् वैधानिक दृष्टि से भारत की नारी अधिकार सम्पन्न हुई और शिक्षा ने उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाये। सामाजिक कुरीतियों और चुनौतियों का सामना करती हुई शिक्षा की खुली खिड़कियों ने एक ओर उसने परिवार की संरचना में योगदान दिया, तो दूसरी ओर वह राष्ट्र निर्माण में अपनी यशगाथा भी फैला रही है। महिलाओं के सशक्तीकरण को सार्थक बनाने के लिए हमें अपनी सोच को पूरी तरह सकारात्मक बनाना होगा। स्त्री-पुरुष, पुत्र-पुत्री के अंतर को मिटाना होगा, शिक्षा के महत्त्व को समझना होगा जिसकी आज परम आवश्यकता है।

(ग) आधुनिक हिन्दी कथा—साहित्य में स्त्री—दृष्टि (प्रारम्भ से 1990 तक)  
प्रेमचंद पूर्व, प्रेमचंदोत्तर और सन् 60 से 90 के दशक का परिदृश्य

उपन्यास एक ऐसी आधुनिक विधा है, जिसने औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था के गर्भ से जन्म लिया। प्राचीन काल में काव्य का विकास इसलिए अधिक हुआ था क्योंकि उस काल में मुद्रण की सुविधा नहीं थी तथा विचार के स्थान पर भावना और आवेग का अधिक महत्त्व था। सामुदायिक सहयोग की भावना का प्राधान्य था, यथार्थ के प्रति आग्रह की कमी थी। सम्भाव्य जीवन मूल्यों और आदर्शों पर अधिक बल था तथा जीवन में जटिलता अधिक नहीं थी। जैसे—जैसे इन स्थितियों में बदलाव आया, काव्य के स्थान पर गद्य का वातावरण तैयार हुआ। इसके परिणामस्वरूप भारत वर्ष में आख्यायिका नामक अभिव्यक्ति रूप अस्तित्व में आया। अनेक लोग उसी को उपन्यास का आदिरूप भी कहते हैं, किन्तु आधुनिक रूप में उपन्यास की जो परिभाषा सर्वस्वीकृत है उसके अनुसार उपन्यास का विकास मूलतः पश्चिम में हुआ इसके पीछे यूरोप का 14वीं—15वीं शताब्दी का पुनर्जागरण है। “रॉल्फ फॉक्स ने माना है कि जिस पुनर्जागरण ने यूरोप को आमूल—चूल परिवर्तित कर दिया, वही आधुनिक युग को जन्म देने वाला काल है तथा इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि वही उपन्यास का भी जन्मकाल है। इतिहास की दृष्टि से देखें, तो उस काल में यूरोप का परिचय मुद्रण कला से हुआ। नये प्रकार की शिक्षा—पद्धति शुरू हुई और सामुदायिक के स्थान पर वैयक्तिक मूल्यों का महत्त्व बढ़ना शुरू हुआ। वैचारिकता के विकास के साथ ही जीवन के प्रति यथार्थ—दृष्टि विकसित हुई और शासन व्यवस्था की दृष्टि से लोकतंत्र की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। आगे चलकर औद्योगिक क्रांति ने समाज का विभाजन नये आधारों पर कर दिया तथा मध्यवर्ग का उदय हुआ। यहीं से अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में साहित्य का रूप भी बदला और अन्य विधाओं की अपेक्षा गद्य का तीव्र विकास हुआ।”<sup>43</sup>

“हिन्दुस्तान में इस प्रकार की परिस्थितियां औपनिवेशिक शासन के बाद निर्मित हुईं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर लगभग आगामी सात दशकों तक हिन्दी पाठक वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया बहुत धीमी रही और उपन्यास एक विधा के रूप में लगातार दस्तक देता रहा। आलंकारिक भाषा में— यह भी कहा जा सकता है कि लगभग 70 वर्ष तक परिस्थितियों के गर्भ में कुलबुलाता रहा और 1870 ई0 में ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ के रूप में प्रकट हुआ। इसके लगभग 15 वर्ष पूर्व बंगला और मराठी में उपन्यास का जन्म हो चुका था। बंगला और हिन्दी में इसे ‘उपन्यास’, उर्दू में ‘नाविल’, मराठी में ‘कादम्बरी’ तथा गजराती में ‘नवल कथा’ की संज्ञा प्राप्त हुई।”<sup>44</sup>

हिन्दी उपन्यास के विकास का नवीन चेतना एवं आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से सम्बन्धित अपने वक्तव्य में नलिन विलोचन शर्मा ने हिन्दी उपन्यास के इतिहास को “हिन्दी भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफल माना है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास की विकास परम्परा को ध्यान में रखते हुए इसे निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास
2. प्रेमचंद कालीन हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास
3. प्रेमचन्द्रोत्तर हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास

### 1. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास :

20वीं सदी के आरम्भ में समाज सुधारकों द्वारा नारी की दयनीय स्थिति में सुधार करने के निमित्त अनेक प्रयास किये गए। इस समय के उपन्यासों में नारी के सनातन रूप को ही दिखाया गया। उपन्यासकारों ने नारी के वाह्य रूप को तो रेखांकित किया, किन्तु उसके आन्तरिक पक्ष को उद्घाटित करने में असफल रहे। सच तो यह है कि इन लेखकों ने नारी के मनोभावों को समझने का संकीर्ण प्रयास किया।

पुरुष प्रधान मानसिकता वाले समाज के कारण नारी परतंत्र ही रही, फलस्वरूप अलग से उसके व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाया।

इस युग का साहित्य प्राचीनता की परिधि का अतिक्रमण करने की अपेक्षा उसका परिसीमन करता है। सर्वत्र विधवा-विवाह का निषेध, सती प्रथा एवं विधवा जीवन को प्रोत्साहन एवं बहुपत्नी प्रथा का पोषण दिखाई पड़ता है। एक ओर जहां इस समय का समाज वेश्याओं को तिरस्कृत करता है, वहीं दूसरी ओर अपनी दमित वासना की पूर्ति के लिए वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित करता दिखाई पड़ता है। किसी न किसी रूप में समाज सुधारकों के सदकृत्यों से समाज प्रभावित हुआ तभी एक नवीन परम्परा की नींव पड़ी। हिन्दी उपन्यास का यह विकास काल गहरे नैतिक आग्रहों और दबावों का काल है। इस युग के उपन्यासकारों में साहस का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है क्योंकि कोई भी समाज एकाएक मूल्यों में आए परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप समाज के दो रूप परिलक्षित होते हैं— पहला परिवर्तनशील और दूसरा परम्परावादी। चूंकि दूसरा पक्ष अपनी संख्या बहुलता के कारण आक्रामक प्रवृत्ति का था अतः उपन्यासकार साहस के साथ उनका विरोध करने की अपेक्षा अपनी रोजी-रोटी को बनाए रखने के लिए समझौतावादी बन गए। जीविकोपार्जन के लिए यह उनकी विवशता हो सकती है किन्तु इससे वे समाज में नारी उत्थान का संदेश देने की अपेक्षा सनातन परंपरा के पोषक के रूप में उभरे। एक तरफ समाज सुधारक सती प्रथा के अंत एवं विधवा विवाह को कानूनी तथा सामाजिक मान्यता दिलाने के लिए प्रयासरत थे तो दूसरी तरफ उपन्यासकार तथा रूढ़िवादी जन समुदाय सतीप्रथा को बनाए रखने और विधवा विवाह का निषेध करने के लिए कृत संकल्प था और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए नई-नई कहानियाँ बना रहा था। गौरी दत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) उपन्यास की रचना का उद्देश्य स्त्री को गृहस्थ धर्म का उपदेश देना था। स्वयं गौरीदत्त के शब्दों में "मैंने इस कहानी को नए रंग-ढंग से लिखा है। इस पुस्तक में स्त्रियों की ही बोल-चाल और वही शब्द, जहां जैसा आशय है, लिखे हैं और यह वह बोली है जो इस जिले के

बनियों के कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष व लड़के बोलते-चालते हैं।”<sup>45</sup> इसी क्रम में ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय कृत ‘वामा शिक्षक’ (1883) तथा श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत ‘भाग्यवती’ (1887) का केन्द्रीय कथ्य स्त्री-शिक्षा है। ठाकुर जगमोहन सिंह का ‘श्यामा स्वप्न’ (1888) अन्तर्जातीय प्रेम विवाह की समस्या पर आधारित उपन्यास है। इसमें ‘श्याम सुन्दर’ नामक क्षत्रिय युवक ‘श्यामा’ नामक ब्राह्मण युवती से प्रेम करता है। वह आत्महत्या का झांसा देकर श्यामा से शारीरिक संबंध स्थापित कर लेता है जिससे श्यामा गर्भवती हो जाती है। फलस्वरूप दोनों विवाह करना चाहते हैं, किन्तु रूढ़िवादी समाज अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति नहीं देता। इस प्रकार अविवाहित गर्भवती नायिका रूढ़िवादी समाज में घृणा का अभिशाप झेलने को विवश है।

लज्जाराम मेहता के स्त्री विषयक उपन्यासों में ‘स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी’ (1899) ‘सुशीला विधवा’ (1907) और ‘आदर्श हिन्दू’ (1915) प्रमुख हैं। ‘स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी’ में लेखक ने दो सगी बहनों ‘रमा’ और ‘लक्ष्मी’ के माध्यम से पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति-सभ्यता के द्वन्द्व का चित्रण किया है। इस उपन्यास में कथाकार ने पाश्चात्य जीवन मूल्यों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में पली-बढ़ी नारी चरित्र की श्रेष्ठता साबित करने का प्रयास किया है। ‘सुशीला विधवा’ में उपन्यासकार ने नारी के विषय में मनुवादी परंपरा का पोषण करते हुए अपनी नायिका को सनातन मूल्यों की पोषिका के रूप में चित्रित किया है— “वह कभी किसी पुरुष के समक्ष बात नहीं करती थी..... वह सदा सबको यही उपदेश दिया करती थी कि स्त्रियों को बचपन में माता-पिता के वश में रहना चाहिए, विवाह होने पर पति की दासी होकर, उसकी आज्ञा के बिना कोई काम नहीं करना चाहिए और दुर्भाग्य से पति न रहे तो पुत्र या भाई को बड़ा मानकर उसके कथन के अनुसार चलना चाहिए।”<sup>46</sup>

‘आदर्श हिन्दू’ में कथाकार ने सती प्रथा का समर्थन किया है। इसमें एक वृद्ध नारी अपने मृत पति के वियोग में प्राण दे देती है। इस पर लेखक उस स्त्री की प्रशंसा करते हुए कहता है— “लोग कहा करते हैं। कि उसकी समझ मोटी है, परन्तु आज

उसने दिखला दिया कि पढ़ी-लिखी औरतों से वह हजार दर्जों अच्छी निकली। दोनों की वैकुण्ठियां साथ निकलीं, दोनों एक ही चिता पर जलाए गए। वास्तव में ऐसे लोगों का जन्म सार्थक है। भारत में ऐसे सज्जनों की आवश्यकता है।<sup>47</sup> इसी उपन्यास में कथाकार द्वारा समाज में मनोरंजन के निमित्त वेश्याओं की स्वीकृति अनिवार्य है तो दूसरी ओर उनके प्रति घृणा का भाव भी झलकता है। इस तरह एक साथ दो विरोधी विचारधाराओं को वहन करते हुए लेखक कहता है— “बेशक रंडियाँ समाज में एक बला हैं, परन्तु इससे आप यह न समझ लीजिए कि वे समाज से निकाल देने लायक हैं, फिजूल हैं और इन्हें बंद कर देना चाहिए। नहीं, इनकी भी समाज के लिए दो कारणों से आवश्यकता है, एक यह कि जब गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तब कुल बधुएं इस काम को ग्रहण करेंगी और दूसरे—जैसे बड़े नगरों में सड़क के निकट जगह-जगह पनाले बने हुए हैं, यदि न बनाए जाएं तो चित्तवृत्ति को, शरीर के विकार को न रोक सकने पर लोग बाज़ार और गलियों को खराब कर डालें, उसी तरह यदि वेश्याएं हमारे समाज से उठा ली जाएं तो घर की बहू-बेटियां बिगड़ेंगी।”<sup>48</sup>

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किशोरी लाल गोस्वामी जी ने स्त्री विषयक अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें ‘प्रणयिनी परिणय’ (1890), ‘आदर्श रमणी’ (1890), ‘स्वर्गीय कुसुम’ (1901), ‘पुनर्जन्म व सौतिया डाह’ (1907) तथा ‘अँगूठी का नगीना’ (1918) प्रमुख हैं। ‘अँगूठी का नगीना’ उपन्यास में नारी के कई रूपों का चित्रण मिलता है। इस उपन्यास की नायिका इस जन्म के साथ-साथ अगले जन्म में भी पति की दासी बनने की अभिलाषा रखती है। नायिका कहती है— “आज मेरे लिए बड़े आनंद का दिन है कि तुम्हारे चरणों का दर्शन करके मरती हूँ। अब तुम मुझे ऐसी शिक्षा देना जिससे दूसरे जन्म में तुम्हारी चरण सेवा अधिकारिणी होकर चिरकाल तक इन चरणों में स्थान पाऊँ और तुम्हें सच्चे जी से शपथ दिलाकर कहती हूँ कि तुम दूसरा विवाह करके अवश्य सुखी होना। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हारा सुख देखकर

मैं परलोक में सुख पाऊँगी।”<sup>49</sup> सामाजिक मापदण्डों के दृष्टिकोण से यह उपन्यास हिन्दू आदर्शों का बखान करते दिखाई पड़ता है।

‘स्वर्गीय कुसुम’ वेश्या जीवन पर लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास के माध्यम से गोस्वामी जी ने ‘देवदासी प्रथा’ की आलोचना की है। देवदासी प्रथा मुख्यतः दक्षिण भारत में प्रचलित थी। इस प्रथा के माध्यम से मन्दिरों में वेश्यावृत्ति को बढ़ावा दिया जाता था। इस उपन्यास की मुख्य पात्र ‘कुसुम’ अपने पिता द्वारा पुत्र प्राप्ति की कामना से ईश्वर को समर्पित कर दी जाती है, जिसका पालन-पोषण मंदिर का पुजारी करता है। छः-सात वर्ष की होने पर वह उसे एक वेश्या के यहाँ बेंच देता है, जो उसे नृत्य, संगीत आदि की शिक्षा देकर वेश्यावृत्ति में धकेल देती है। ‘पुनर्जन्म व सौतिया डाह’ उपन्यास के नायक ‘सज्जन सिंह’ और नायिका ‘सुन्दरी’ पूर्वजन्म में एक दूसरे से प्रेम करते थे और इस जन्म में भी पूर्वजन्म की स्मृति बनी रहती है। ‘सज्जन सिंह’ के विवाह के प्रसंग को जानने के बाद भी ‘सुन्दरी’ किसी अन्य पुरुष से विवाह करने को तैयार नहीं होती क्योंकि वह ‘सज्जन सिंह’ से ही पुनर्विवाह करना चाहती है। सज्जन सिंह की पत्नी दोनों के संबंधों को जानने के बाद सुन्दरी के प्रति ईर्ष्या भाव से भर उठती है किन्तु पति की खुशी के लिए सौत लाने को तैयार हो जाती है। वह अपने पत्नी धर्म को व्यक्त करते हुए धर्मशास्त्र की दुहाई देती है— “धर्मशास्त्र में स्त्री के लिए केवल एक ही विवाह का विधान है, पर पुरुष असंख्य विवाह कर सकता है। अतएव अब मैंने यह बात जानी कि तुम दोनों निष्कलंक हो। तब मुझे क्या दुख हो सकता था कि मैं तुम्हारे सुख में व्यर्थ काँटे बोती।”<sup>50</sup> इस उपन्यास में पति की इच्छा मानकर पत्नी द्वारा सौत को स्वीकारने की उदारता में पुनर्जन्म को देखा गया है, किन्तु पुनर्जन्म और धर्मशास्त्र के खोखले मानदण्ड स्त्री-मुक्ति पर सवाल खड़ा करते हैं।

देवकीनंदन खत्री कृत ‘चन्द्रकान्ता’ (1891) उपन्यास हिन्दी उपन्यास के नवस्फुटित यथार्थवादी रूझान के प्रति उदासीन रहकर एक नवीन विचारधारा का



प्रवर्तन करता है। इसमें मध्यकालीन पटकथाओं के ढंग पर ही प्रेम संबंधों के विकास का चित्रण है। इसमें स्त्री का प्रयोग 'विषकन्या' के रूप में भी किया गया है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के स्त्री विषयक दो उपन्यास प्रकाशित हैं— 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (1899) तथा दूसरा 'अधखिला फूल' (1907)। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में 'देवबाला' एक आदर्श हिन्दू नारी का प्रतिनिधित्व करती है। वह पति के चारित्रिक स्खलन और समस्त दुर्व्यवहार के बावजूद समस्त नैतिक मानदण्डों का पालन करती दिखाई पड़ती है। भाग्यवाद और पुनर्जन्म में बंधी हुई देवबाला पर नवजागरण का कोई प्रभाव नहीं परिलक्षित होता है। हरिऔध ने 'अधखिला फूल' के माध्यम से नारी के प्रति समाज के परिवर्तित मूल्यों का संकेत अवश्य दिया है। यद्यपि यह कोई सार्थक पहल नहीं है फिर भी एक सार्थक दिशा संकेत अवश्य है। इस उपन्यास में विधवा नारी के लिए विधवा आश्रम खोलने की बात कही गई है, किन्तु बिना किसी निष्कर्ष पर पहुंचे ही उस प्रकरण का पटाक्षेप कर दिया गया है।

निष्कर्षतः यह परिलक्षित होता है कि इस दौर में सुधारवादी आन्दोलनों के कारण स्त्री की नियति उसे शिक्षित करके संस्कारित करने की ही प्रवृत्ति रही है। साथ ही पाश्चात्य और भारतीय संस्कृति के द्वन्द्व में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का प्रयत्न हुआ है।

### प्रेमचन्द युगीन हिंदी उपन्यासों में स्त्री दृष्टि का विकास :

भारतीय जीवन के यथार्थ का एक महत्वपूर्ण पक्ष समाज में नारी की स्थिति है। भारतीय नवजागरण नारी की परम्परागत स्थिति में सुधार से जुड़ा रहा। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों ने नारी सुधार के प्रति अपनी बुद्धि विवेक का भरपूर परिचय दिया था, बल्कि यह कहना भी असंगत न होगा कि पूर्ववर्ती सामाजिक उपन्यासों में स्त्री समस्या केन्द्रीय कथ्य बना रहा। किन्तु, प्रेमचन्द पूर्व उपन्यासकार नारी दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे। प्रेमचन्द के समय में भी नारी, विशेषकर मध्य

और उच्च वर्ग की नारी दोहरी दासता की शिकार थी। उसे न तो सम्पत्ति में कोई अधिकार था और न ही वह स्वतंत्र रूप से जीविका अर्जित करने में समर्थ थी। प्रायः लड़कियां शिक्षा से वंचित थी, उनकी जगह केवल गृहिणी के रूप में या घर से बाहर वेश्यालय में थी। लड़कियों के विवाह के लिए तिलक-दहेज अनिवार्य था। माता-पिता अपनी कन्या का विवाह दहेज देने की असमर्थता के कारण अयोग्य निर्धन या बूढ़े व्यक्तियों से कर देते थे। जिससे लड़कियों की जिन्दगी नरक तुल्य हो जाती थी। प्रेमचन्द युग आते-आते नारी विषयक धारणाएं बदलने लगीं। प्रेमचन्द ने इस परिवर्तित नारी रूप को संतुलित दृष्टिकोण से अपने उपन्यासों में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। “प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिस तरह आर्थिक समस्या के केन्द्र में कृषकों को रखा है। उसी तरह सामाजिक समस्या के केन्द्र में स्त्रियों को। उनकी स्त्रियों की पराधीनता पर चोट करने का अर्थ है परिवार के परंपरागत ढाँचे पर चोट करना और इसमें स्त्री की स्थिति को पुनर्भाषित करना। उनके लिए स्त्री की मुक्ति का अर्थ है—पूरी सभ्यता में एक बदलाव।”<sup>51</sup>

प्रेमचन्द ने अपने प्रथम उपन्यास ‘वरदान’ में मध्ययुगीन नारी का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास की नायिका विधवा बृजरानी अपनी सास से ही शोषित है। वह कहती है “यह अभागिनी जब से घर में आई है घर का सत्यानाश हो गया है। इसका पौरा बहुत निकृष्ट है तुम्हारे चिकने रूप ने मुझे ठग लिया। मैं क्या जानती थी तुम्हारे चरण इतने अशुभ है।”<sup>52</sup>

‘प्रतिज्ञा’ में भी विधवा स्त्री की समस्या को रेखांकित किया गया है। उपन्यास की नायिका सुमित्रा पति की दासता सहन करना नारी जाति का अपमान समझती है। खुले शब्दों में पितृसत्ता की आलोचना करती हैं “स्त्री पुरुष की जूती के सिवाय है ही क्या? पुरुष चाहे जैसा हो चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो, स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण रज धो-धो कर पिए?”<sup>53</sup> यही नहीं वह आगे भी स्त्रियों की पराधीनता का कारण पुरुषों पर निर्भर होना बताती है। “बेचारी औरत कमा नहीं सकती इसलिए

उसकी यह दुर्गति है। मैं कहती हूँ अगर मर्द अपने परिवार भर को खिला सकता है तो क्या स्त्री अपनी कमाई से अपना पेट नहीं भर सकती?"<sup>54</sup>

सेवासदन (1918) में प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय नारी के अभिशप्त जीवन की करुण कथा कही है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग के उन अनैतिक मूल्यों को उजागर किया है जो नारी की आर्थिक पराधीनता के लिए जिम्मेदार है। सुमन वेश्या क्यों बनी? इसका सीधा उत्तर है धन का अभाव। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेवासदन में स्त्री का मूल संघर्ष आर्थिक दासता से मुक्ति के लिए है। निर्मला (1927) उपन्यास का कथानक मध्यवर्गीय समाज के अनमेल विवाह की समस्या को दिखाता है। इसमें प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय नारी को जितनी स्पष्टता के साथ उभारा है और किसी उपन्यास में नहीं मिलता। निर्मला इस उपन्यास की नायिका है। वह अपने पिता की उम्र के तोताराम को पति के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती। तोताराम का बुढ़ापा स्वामित्व का रूप धारण करके उसकी आराधना का विषय बन जाता है तोताराम को निर्मला प्यार की बजाय दया और श्रद्धा का पात्र समझाती हैं वह कहती है "मैं इनकी सेवा कर सकती हूँ अपना जीवन इनके चरणों में अर्पण कर सकती हूँ लेकिन वह नहीं कर सकती जो मेरे किए नहीं हो सकता। अवस्था का भेद मिटाना मेरे वश की बात नहीं।"<sup>55</sup>

प्रेमचन्द ने निर्मला को घर की चारदीवारियों में तिल-तिल दम तोड़ती नारी के रूप में चित्रित किया है लेकिन निर्मला एक व्यक्ति नहीं है। वह एक वर्ग की प्रतिनिधि है एक सामाजिक व्यवस्था की संवाहिका है और वह व्यवस्था है— पुरुष प्रधान समाज द्वारा बनाई गई परम्परा का। जिन परिस्थितियों की शिकार निर्मला थी जीवन की अंतिम सांसे गिनते हुए उसका अपनी बेटा को अपनी ननद रुक्मिणी के हाथों सौंपकर यह कहना कि चाहे कवाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा पर किसी कुपात्र के गले न मढ़िएगा, उसकी वेदना और विद्रोह उस परम्परावादी ढाँचे को ध्वस्त करने के लिए पर्याप्त है। प्रेमचन्द निर्मला के माध्यम से यह संकेत देते हैं कि अब वह समय आ गया है जब स्त्री को मुँह खोलना पड़ेगा। उसके हिस्से की चीजें बिना माँगे पुरुष

समाज नहीं देगा और विवाह जैसे गम्भीर मुद्दे पर महिलाओं को अपनी चुप्पी तोड़नी पड़ेगी। यदि नारी अपने जीवन के इस गंभीर मामले में उदासी न बनी रहेगी तो उसकी भी वही दशा होगी जो निर्मला की हुई।

‘कर्मभूमि’ (1932) सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौर में लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में जितने भी आंदोलन चलते हैं उन सबमें पुरुषों के साथ स्त्रियाँ बढ़-चढ़कर भाग लेती हैं। सुखदा, नैना, मुन्नी, सलोनी और सकीना इस उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्र हैं। सुखदा स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दिये जाने की बात करती है। उसका मानना है कि गृहस्थी में जो योगदान पुरुष करता है, उतना ही स्त्री का भी है तो फिर पुरुष को ज्यादा अधिकार क्यों? यदि स्त्री पुरुष को अपना सब कुछ सौंप देती है तो पुरुष को भी समर्पण करना होगा।

‘अमरकांत’ के घर छोड़कर चले जाने पर सकीना सुखदा से कहती है बहन उसको मना लाओं तो सुखदा अपनी धारणा स्पष्ट करती है। “ उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैं ऐसे कमीने आदमी की खुशामद नहीं कर सकती। अगर आज मैं किसी मर्द के साथ भाग जाऊँ तो तुम समझाती हो वह मुझे मनाने जायेंगे? वह शायद मेरी गर्दन काटने जाएं। मैं औरत हूँ औरत का दिल इतना कड़ा नहीं होता लेकिन उसकी खुशामद मैं मरते दम तक नहीं कर सकती।”<sup>56</sup> इस उपन्यास की सारी स्त्रियाँ घर से बाहर निकलकर समाज सुधार के प्रयासों में अपना योगदान देती हैं। वे समाज के बड़े-बड़े नियमों का उल्लंघन करती हैं वे स्वतंत्रता तो चाहती है किंतु उस स्वतंत्रता में भी उन्हें जीवन के कुछ बंधन प्रिय हैं। सुखदा अपने पति अमरकांत के विषय में कहती है यदि वह मुझसे भागना चाहते हैं तो मैं उनको बांधकर नहीं रखूँगी। पुरुष को जो आजादी मिली है वह उसे मुबारक रहे, वह अपना तन-मन, गली-गली, बेंचता फिरे, मैं अपने बंधन में प्रसन्न हूँ और ईश्वर से यही विनती करती हूँ कि वह बंधन में मुझे डाले रखे। मैं जलन या ईर्ष्या से विचलित हो जाऊँ उस दिन से पहले

मेरा अंत कर दे। इन सभी नारी पात्रों ने युगों से शोषित नारी को मुक्त करने की आवाज उठाई है।

‘गोदान’ (1936) हिंदी उपन्यासों में प्रत्येक दृष्टि से अपना एक अलग महत्व रखता है। स्त्री विमर्श का जो वैचारिक आंदोलन हिंदी साहित्य जगत में सत्तर एवं अस्सी के दशक में शुरू हुआ उसकी मजबूत आधार शिला प्रेमचंद गोदान में रख चुके थे। सदियों से अपने साथ हो रहे अन्याय और शोषण के खिलाफ महिलाओं की परिवार और समाज के प्रति विद्रोह की जो अग्नि प्रज्वलित हुई उसकी सुगबुगाहट धनिया में ही दिखाई देने लगती है। गोदान में धनिया के बहाने प्रेमचंद स्त्री शक्ति को रेखांकित करते हैं “धनिया ने अपने साहस से स्त्रियों का ही नहीं पुरुषों का नेतृत्व भी प्राप्त कर लिया था। धनिया में अद्भुत साहस है और समय पड़ने पर वह मर्दों के भी कान काट सकती है।” धनिया स्वाभिमानी, विद्रोही और न्याय प्रिय नारी है तभी तो वह देवर द्वारा पैसे चुराने के आक्षेप चुप चाप सहती नहीं है और उनके की चोट पर कहती है कि “दाढ़ी जारों के पीछे हम बरबाद हो गए, सारी जिन्दगी मिट्टी में मिला दी, मैंने हंडे भर अशर्फियां छिपा ली। हीरा, सोना और संसार को जो करना हो कर ले।”<sup>57</sup>

उसमें पुरुष समाज द्वारा किये जा रहे हर अन्याय और शोषण का विरोध करने की ताकत है। वह आधुनिक युग की नारी है उसकी दृष्टि में जो न्याय संगत है; जायज है, उसे वह अवश्य करती है। वह केवल अपने लिए नहीं लड़ती, झुनिया के साथ-साथ उसके भाई और पिता द्वारा किये जा रहे अमानवीय व्यवहार के खिलाफ भी बोलती है। उसे किसी के कहने की परवाह नहीं, झुनिया के बेटे के जन्मोत्सव पर गला फाड़कर सोहर गाती है। जिससे सारा गाँव सुन ले। उसका कहना है कि अगर बिरादरी को उसकी परवाह नहीं है तो वह भी शोषण के खिलाफ लड़ती है।

गोदान की दूसरी प्रमुख नारी पात्र मालती है। जो अपने आधुनिक विचारों के कारण पुरुषों के लिए आश्चर्य एवं उपहास की पात्र है तो दूसरी ओर श्रद्धा एवं प्रेम की

मूर्ति है। प्रेमचंद ने 'मालती' का जिस स्वतंत्र नारी के रूप में चित्रण किया है वह समाज में होने वाले बहुत बड़े परिवर्तन का चित्र है। ऊपर से स्वतंत्र दिखने वाली नारी में कितनी दयनीयता छिपी है वे इसे दिखाते हैं। वह अगर बाहर से तितली है तो भीतर से मधुमक्खी है। वह शिकार खेलने भी जा सकती है। गंभीर विषयों पर होने वाले वाद-विवाद में भी भाग ले सकती है। दीन दुखियों और रोगियों की सेवा भी कर सकती है किंतु उस पर भी भारतीयता की नमनीयता नहीं पाश्चात्य का वर्चस्व ही है। स्त्रियों पर पड़ने वाले पाश्चात्य शिक्षा के दुष्परिणामों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराने के उद्देश्य से ही प्रेमचंद ने मालती का सृजन किया और उस पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव दिखाकर मालती को आदर्श नारी बना दिया। मालती की दृष्टि में प्रेम ही वह मार्ग है जो जीवन को पूर्णता की ओर ले जा सकता है। वह विवाह को एक बंधन मानती है तभी तो मेहता से कहती है "अपनी छोटी सी गृहस्थी बनाकर अपनी आत्माओं को छोटे से पिंजरे में बंद करके अपने सुख-दुख को अपने ही तक रखकर क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं? जिस दिन मन मोह में आसक्त हुआ हम बंधन में पड़े उस दिन हमारे मानवता का क्षेत्र सिकुड़ जाएगा। तुम्हारे जैसे विचारवान प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में बंदी नहीं करना चाहती।"<sup>58</sup> मालती मेहता को गृहस्थी के झंझट में नहीं फँसाना चाहती बल्कि उसकी शक्ति मानवता के हित में लगाना चाहती है। इस प्रकार यह उपन्यास मिस मालती के माध्यम से समाज को स्पष्ट संकेत देता है कि नारी के मूल्य बदल रहे हैं वह स्वयं संबंधों की उपयोगिता और अनुपयोगिता का मूल्यांकन अपनी दृष्टि से करेगी। अब वह परम्परागत संबंधों को सहजता से स्वीकार करने की अपेक्षा पहले उस पर आत्ममंथन करेगी तब कोई निर्णय लेगी। नारी-पुरुष संबंधों को नए रूप में प्रस्तुत करने के कारण यह उपन्यास मील का पत्थर साबित हुआ।

प्रेमचंद युगीन उपन्यासकारों में भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रेमपथ (1926), अनाथ पत्नी (1928), जयशंकर प्रसाद, कंकाल (1929), तितली (1934), जैनेन्द्र परख (1930),

सुनीता (1935), निराला, अप्सरा (1931), अलका (1933), निरूपमा (1936), विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक' माँ (1929), भिखारिणी (1929), चण्डी प्रसाद हृदयेश, मनोरमा (1924), शिवपूजन सहाय, 'देहाती दुनियाँ (1926), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र चंद हसीनों के खतूत (1927), दिल्ली का दलाल (1927), बुधुवा की बेटी (1928), शराबी (1930), ऋषभ चरण जैन, दिल्ली का व्यभिचार (1928), वेश्यापुत्र (1929), दिल्ली का कलंक (1936), मन्नन द्विवेदी गजपुरी, कल्याणी (1921), चन्द्रशेखर पाठक, अबला की आत्मकथा (1933), सद्गुणी सुशीला (1935), प्रतापनारायण श्रीवास्तव, विदा (1929), वृन्दावनलाल वर्मा लगन (1928), संगम (1929), गढ़गुठार (1929), प्रेम की भेंट (1931), विराटा की पद्मिनी (1936), सियारामशरण गुप्त, गोंद (1932), हैं। भगवतीचरण वर्मा चित्रलेखा (1934) आदि प्रमुख हैं।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासकारों में भगवती प्रसाद वाजपेयी का प्रमुख स्थान है। इनके उपन्यासों में कथ्य के रूप में केन्द्रीय स्थिति काम भावना की है। उन्होंने प्रेम और उसके भावनात्मक पक्ष को अधिक विस्तार दिया है। 'प्रेमपथ' काम भावना और नैतिकता के स्तर पर लिखा गया उपन्यास है। इसमें पारिवारिक विद्रूपता का भी चित्रण है जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर चलता तो है पर शारीरिक स्तर पर रुकावट डाल देता है। विधवा साली अपने बहनोई को अपना नहीं पाती। इसी तरह अनाथ पत्नी की कहानी ब्राह्मण समाज की रूढ़ि के कारण विवाह टूट जाता है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र रजनी अपने समक्ष उत्पन्न स्थिति से घबराती नहीं वरन् लगातार पढ़ाई करके मेडिकल की परीक्षा पास करती है और अपना सारा जीवन रोग पीड़ितों की सेवा में लगा देती है। आर्थिक गुलामी से मुक्ति का प्रयास करती हुई अपनी स्त्री के सबलीकरण की विचार धारा की शुरुआत करती हैं भगवती प्रसाद वाजपेयी की रचना दृष्टि को रेखांकित करते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी कहते हैं "प्रारम्भ में आपकी प्रवृत्ति आदर्श प्रधान एवं सुधारवादी थी धीरे-धीरे आपकी कृतियों में प्रेम की जटिलता मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और नारी जीवन की भूल-भूलैया को प्रधानता मिली।"<sup>59</sup>

प्रसाद जी के उपन्यासों में सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन की तमाम जटिलताएं व्यक्त होती हैं। कंकाल उपन्यास की नायिका 'किशोरी' एक पतिपरायण नारी है किंतु संतानहीन होने के कारण वह दुखी रहती है और अनेक उपाय के बावजूद जब उसे मातृत्व सुख नहीं मिल पाता तो वह एक ब्रह्मचारी के बहकावे में आकर अपने चरित्र और एकनिष्ठा के साथ समझौता करके उसके प्रति समर्पित हो जाती है "अतीत की स्मृतियाँ वर्तमान की कामनाएं किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वृक्ष पर अपना सिर टिका दिया।"<sup>60</sup> नारी का इस तरह चारित्रिक स्खलन होना इस बात का प्रमाण है कि समाज संतानविहीन स्त्री के प्रति कितना क्रूर है। इसी क्रूरता से निबटने के लिए स्त्री अपनी अस्मिता से समझौता करने के लिए बाध्य हो जाती है। किशोरी को जब अपने नैतिक पतन का एहसास होता है तो वह ग्लानि से भर उठती है और पति मिलन की इच्छा से उद्विग्न हो उठती है। अंततः पति से आमना-सामना होता है और वह पश्चाताप करती है। दोनों के मध्य हुए वार्तालाप से उनके संबंधों की गहराई का पता चलता है— "हम लोग क्या इतनी दूर है कि मिलन असंभव है? असंभव तो नहीं है नहीं, तो मैं आता कैसे? उसने दीनता से कहा तो अपराध क्षमा नहीं हो सकता।"<sup>61</sup> किशोरी पूर्व नायिकाओं की तरह विषपान नहीं करती और नहीं पति परमेश्वर की माला जपती हुई एकांतिक जीवन व्यतीत करती है बल्कि अपनी गलती को एक मानवीय दुर्बलता मानकर, उसे दूर कर पुनः दाम्पत्य सुख की अभिलाषा करती है। इस तरह वह प्रगतिशील विचारधारा के कारण घुटन भरी जिंदगी जीने से बच जाती है।

तितली की नायिका माधुरी परित्यक्त होने के कारण अपनी माँ के घर में रहती है। उसकी माँ उसे घर में वहीं स्थान देती है जो उसे विवाह पूर्व प्राप्त था। वह पूरे घर की मालकिन बनकर रहती है फिर भी बेटी के भविष्य को सुरक्षित कर देने की अभिलाषा के कारण श्याम दुलारीने अपनी सम्पत्ति को बेटी के नाम लिख देने का निर्णय लिया— "मेरी बेटी का दुख से भरा भविष्य है और उसके लिए मुझे कोई उपाय



करना ही होगा। वह इस तरह रह सकेगी। मैंने अपने नाम की जमींदारी माधुरी को देने का निश्चय कर लिया है।”<sup>62</sup> विवाह कर देने के उपरांत बेटी के सुख-दुःख के प्रति अपने दायित्व की इतिश्री मानने वाले अभिभावकों के लिए यह प्रसंग एक उदाहरण है। इसकी प्रासंगिकता जितनी अपने समय में थी उतनी आज भी है। परित्यक्ता बेटी के भविष्य को सुरक्षित करने के लिए दुलारी द्वारा उठाया गया यह कदम प्रगतिशील है। वह उसे कोसने के बजाय उसके प्रति ममत्व तथा कर्तव्यबोध से भर उठती है।

जैनेन्द्र प्रथम उपन्यासकार हैं जो किसी भी समस्या को सामाजिक आधार पर नहीं बल्कि वैयक्तिक आधार पर प्रस्तुत करते हैं। वे बालवैधव्य से जुड़े हुए कई गम्भीर प्रश्नों के साथ परिवार, समाज, नैतिकता आदि से जुड़े हुए मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की ओर बल देते हैं। बाल विधवा ‘कट्टो’ किशोरावस्था आने पर अपने मास्टर जी से प्रेम करने लगती है किन्तु उसके विश्वासघात के कारण वह टूट जाती है और उसे पहली बार इस सच्चाई का बोध होता है कि वह विधवा हो गई है। भारतीय समाज में एक विधवा के लिए प्रेम का क्षेत्र वर्जनीय है लेकिन कट्टो वर्जनीयता की परवाह किए बिना प्रेम का स्वप्न देखती है जो अवस्था के लिहाज से सही है। “‘कट्टो’ की आँखों की यह वर्जनीयता ही वस्तुतः उसका वास्तविक परिचय है, क्योंकि अपनी आँखों से वह सपना देखती है, वैधव्य के बावजूद प्रेम का सपना, जो भारतीय समाज में सदियों से निषेध और वर्जना की अभेद दीवारों में कैद रहा है।”<sup>63</sup> उपन्यास की नायिका अपने विधवापन का बोध वैयक्तिक आधार पर करती है न कि समाज की जड़ परम्पराओं के कारण। वह पुनः ‘बिहारी’ के सम्पर्क में आती है और दोनों दाम्पत्य जीवन में बंध जाते हैं। कट्टो अपने वैधव्य तथा विवाह दोनों की प्रतिज्ञा को स्पष्ट करती है— “हम दोनों वैधव्ययज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बंधते हैं। हम एक होंगे, एक प्राण दो बदन।”<sup>64</sup> बिहारी भी उसके वाक्यांश को दुहराता है। इस प्रकार जैनेन्द्र विधवा कट्टो को नवीन जीवन प्रदान करते हैं, किन्तु पुनर्विवाह को ‘वैधव्य यज्ञ’ का नाम देने से उनका क्या तात्पर्य, यह समझ में नहीं आता।

‘सुनीता’ उपन्यास रवीन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास ‘घरे बाहिरे’ की प्रतिछाया में लिखा गया है। भारतीय स्त्री परिवार, विवाह आदि संस्थाओं में कैद रही है। जैनेन्द्र इन संस्थाओं को स्त्री की दृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं तथा उनके अन्तर्विरोधों को चिन्हित करके उनकी अस्मिता के प्रश्न को भी प्रदर्शित करते हैं। “विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु है कि सभी अपना नाम खो दें और अमुक एक पुरुष के नाम पर अपने ऊपर छत्र लेकर उसकी सम्पत्ति होकर रहे।”<sup>65</sup>

‘अप्सरा’ वेश्या जीवन को केन्द्र में रखकर लिया गया उपन्यास है। उपन्यास की नायिका ‘कनक’ वेश्यापुत्री है किन्तु वेश्या जीवन के घृणित पेशे से वह दूर रहती है। वड़ संदर्भ में गोपाल राय ने कहा है कि— “संवेदनशील रचनाकारों में वेश्या समाज के प्रति बढ़ती सहानुभूति उस नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत मानी जा सकती है, जो आज के कथा-साहित्य का प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। प्रेमचन्द की वेश्याओं के प्रति सहानुभूति तो है पर उनमें इतना साहस नहीं है कि वे किसी ज्ञात युवक से विवाह दिखा सकें।”<sup>66</sup>

‘अप्सरा’ में निराला ने वेश्या के वरक्स तथाकथित सभ्य समाज को रखकर उसके अन्तर्विरोधों पर कटु प्रहार किया है। उपन्यास के नारी पात्रों में शोभा (अल्का), सावित्री, वीणा प्रमुख हैं। इन पात्रों के सहारे निराला ने सभी की सामाजिक स्वायत्तता से जुड़े हुए कई महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया है। “इस भारत में आश्रयहीन बालिका और तरुण विधवाएं भी हैं। उन्हें खाने को नहीं मिलता भूख के कारण विधर्म को भी उन्हें ग्रहण करना पड़ता है। चिरसंचित सतीत्व से भी हाथ धोती हैं। इस घोर सामाजिक अंधकार में पथ परिचर्या का बहुत कुछ प्रकाश या ‘अल्का’ को कदापि खिन्न नहीं होना चाहिए।”<sup>67</sup> स्नेहशंकर के यहाँ ‘अल्का’ के आत्मविश्वास में अत्यंत निखार आ जाता है। वह जमींदार मुरलीधर को दण्डित करने में सफल हो पाती है। अतः उसका नारी स्वतंत्रता एवं अन्यास के प्रति मुखर विरोध करने की शक्ति तत्कालीन नारी के लिए आदर्श स्वरूप है।

‘निरूपमा’ और प्रभावती में भी निराला ने स्त्रियों के जीवन से जुड़े हुए कई प्रश्न प्रस्तुत करते हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा ‘कौशिक’ प्रेमचन्द के सर्वाधिक निकट हैं। उनके दो उपन्यास ‘माँ’ और ‘भिखारिणी’ लगभग एक साथ प्रकाशित हुए। ‘माँ’ में वे एक आदर्श माँ का चरित्र अंकित करने का लक्ष्य लेकर चलते हैं, किन्तु युग के सुधारवादी आग्रहों के फलस्वरूप वेश्यागमन की बुराइयों और उनसे बचाव के उपाय सुझाने लगते हैं। वेश्यागमन का दुष्परिणाम दिखाते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि गरीबी में भी वास्तविक माँ अपने बच्चे की देखभाल जितने अच्छे ढंग से कर सकती है, वह गोंद लेने वाली माँ नहीं कर सकती।

‘भिखारिणी’ की मूल संवेदना प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह की अस्वीकृति में है। इसमें रमानाथ नामक एक धनी युवक भिखारी नंदू और उसकी युवा पुत्री जस्सो को अपने यहाँ शरण देकर नौकर के रूप में रख लेता है। रमानाथ पहले जमींदार व कुलीन था इस संबंध को स्वीकृति नहीं देता। रमानाथ सुन्दर युवती से विवाह करके गृहस्थी में रमकर ‘जस्सो’ को भूलने का प्रयत्न करता है। इधर जस्सो की मनोव्यथा में निहित अवसाद और करुणा की भूमिका ही उपन्यास का प्रमुख आकर्षण है।

चण्डीप्रसाद शर्मा हृदयेश ने स्त्री को केन्द्र में रखकर ‘मनोरमा’ उपन्यास लिखा है। इसमें कथाकार पति के शंकाशील स्वभाव के कारण नायिका मनोरमा के विचलन की कहानी कहता है। उपेक्षा और प्रताड़ना की स्थिति में प्रकृति की आकर्षक और भव्य पृष्ठभूमि में वह एक सम्पन्न प्रोफेसर की ओर आकृष्ट होकर भाग जाती हैं दूसरी ओर विधवा युवती शांता है जो अपने दैहिक मानसिक आवेगों के प्रति संयम का परिचय देती हुई सारे प्रलोभनों को टुकरा देती हैं मनोरमा और शांता के पारस्परिक चित्रांकन के माध्यम से ही लेखक दमन एवं संयम के मार्ग को श्रेयस्कर प्रमाणित करना चाहता है। शिवपूजन सहाय ने देहाती दुनियाँ में स्त्री की नियति का सवाल उठाया है। इस

उपन्यास में स्त्री के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। रखैल, विधवा सौत और सामान्य गृहिणी। बुधिया रामटहल सिंह की रखैल होकर भी अपने अधिकारों के प्रति सजग है। किंतु खोटे सिक्के की भांति द्वार-द्वार घूमना ही उसकी नियति है। वह कभी सोहाबन सिंह से जुड़ने को अभिशप्त है तो कभी मनबहाल सिंह से उसकी बेटियाँ सुगिया, बतसिया और फहगेनिया भी उससे अधिक भिन्न जीवन नहीं व्यतीत कर पाती है। कहीं वे बूढ़ों को ब्याही जाती हैं कहीं बेची जाती हैं इस प्रकार कथाकार स्त्रियों की दुर्दशा के प्रति संवेदशील है और सामाजिक ढाँचे के विकृत रूप को उजागर करने के कारण लेखकीय दायित्व के प्रति पूर्णतः ईमानदार भी है। रखैल और विधवा स्त्रियों के अधिकारों की बात करके कथाकार ने अपने युग संक्रमण करके प्रगतिशीलता का परिचय दिया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने 'चंद हसीनों के खतूत', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटा', 'शराबी' आदि उपन्यासों में स्त्री दुर्गति के लिए उत्तरदायी सामाजिक कुरीतियों का नग्न चित्रण किया है। 'चंद हसीनों के खतूत' में हिंदू और मुसलमान युवक और युवती के प्रेम, विवाह और साम्प्रदायिक सद्भाव का चित्रण है जो अपने समय में एक साहसपूर्ण कार्य था। इस उपन्यास में उग्र जी ने मुरारी और नरगिस की प्रेमकथा के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य पहले मनुष्य है हिन्दू या मुसलमान बाद में। दूसरे उपन्यास 'दिल्ली का दलाल' में कन्याओं और युवतियों के क्रय-विक्रय करने वाली संस्थाओं का पर्दाफाश किया गया है। देह व्यापार में लगी युवतियों के अनुभव समाज को कटघरे में खड़ा करते हैं। इनकी इस हालात के लिए समाज के ढोंगी पाखण्डी नेता जिम्मेदार हैं, वहीं इनके परिजन भी इन्हें घर में कैद करके अशिक्षित बनाए रखने के कारण निंदनीय हैं। युवतियों का अंधविश्वास और इनकी अज्ञानता ही सबसे बड़ा शत्रु है, किंतु पुरुष वर्चस्व का हिमायती समाज इसे बनाए रखना चाहता है। 'शराबी' में वेश्याओं और शराब घरों का नग्न यथार्थ दिखाया गया है। शराब के कारण इस उपन्यास में दो परिवार बिखर जाते हैं। एक शराबी की

लड़की अपने पिता के उपेक्षा एवं निर्धनता से तंग आकर वेश्या बन जाती है और दूसरा शराबी का पुत्र पिता के प्रेम और सही मार्ग दर्शन के अभाव में शराबी, वेश्यागामी और गैर जिम्मेदार हो जाता है।

‘विदा’ उपन्यास की नायिका कुसुम अपने पति से सामंजस्य न स्थापित करने के कारण उसका घर छोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए पिता के घर चली आती है। और तलाक के विषय में सोचने लगती है। इस पर उसकी बाल्यसखी चंपला उसे समझाती है। ‘पति के पास जाने में लज्जा, भय, अपमान का ध्यान नहीं रखना चाहिए। पिता और भाई को भी त्याग देना चाहिए। स्वामी स्त्री का इस जन्म और पर जन्म का साथी हैं स्वामी स्त्री की लाज है और लाज ही स्त्री का आभूषण है। इस समय लज्जाविहीन हो क्योंकि स्वामी से दूर है।’<sup>68</sup> यानी नारी एक तरफ पति को लेकर आधुनिक विचारों की वाहिका है तो दूसरी ओर सनातन परम्परा की पोषिका उसके दोनों रूप आज भी विद्यमान हैं

वृन्दावनलाल वर्मा की ख्याति ऐतिहासिक उपन्यासकार की रही है। इन्होंने स्त्री समस्याओं को ध्यान में रखते हुए लगन, संयम, गढ़कुण्ठार विराटा की पद्मिनी जैसे उपन्यासों की रचना की है। लगन दहेज की समस्या से संपृक्त उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका रमा की बारात इसलिए वापस लौट जाती है क्योंकि उसका पिता समुचित दहेज की व्यवस्था नहीं कर पाता है। वर्मा जी की नायिकाएं साहस की प्रतीक होती हैं अतएव रमा भी अपने प्रेम और साहस के सहारे पति के रूप में देवासिंह को प्राप्त कर लेती है। ‘प्रेम की भेंट’ में वृन्दावनलाल वर्मा ने बाल विधवा उजियारी और धीरज के प्रेम का चित्रण किया है। जिसमें सामाजिक रूढ़ियों के चलते धीरज उजियारी के प्रति उदासीन उस युवती को विष देकर मारने को प्रयास करती है। भूल से वह विषाक्त भोजन धीरज खा लेता है जिससे उसका प्राणान्त हो जाता है। इस प्रकार वर्मा जी ने प्रेम की उत्कटता को ही अपने उपन्यासों का केन्द्रीय विषय बनाया है।

सियाराम शरण गुप्त ने भी 'गोद' के द्वारा प्रेमचन्द की परम्परा का निर्वहन किया है। गोंद उपन्यास में नायिका एक मेले में खो जाती है और इस अपवाद के कारण उसका तय हुआ विवाह टूट जाता है। क्योंकि घर से गायब रही लड़की को समाज स्वीकारने को तैयार नहीं होता। फलतः उसका विवाह एक प्रौढ़ व्यक्ति से कर दिया जाता है। पहले उसका विवाह शोभाराम से तय हुआ था अतः उसे जब किशोरी के दूसरे विवाह के तय होने की खबर मिलती है तो वह साहस का परिचय दिखाते हुए किशोरी को अपना लेता है। लेखक ने रूढ़िग्रस्त समाज की खिंचाई करते हुए नारी के अभिशप्त जीवन के प्रति संवेदनशीलता दिखाई है।

भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' के माध्यम से पुरुष की दोहरी मानसिकता को दर्शाया है। लेकिन चित्र लेखा इस मानसिकता का बड़े जोरदार ढंग से प्रतिवाद करती है। वह कहती है "तुम समझते हो कि जो स्त्री तुम्हारे सामने खड़ी है वह अंधकार है माया है तुम्हें मेरे विकृत सिद्धांतों से भय होता है पर तुम्हारी यह धारणा निर्मूल है। और रही स्त्री के अंधकार तथा माया होने की बात योगी वहाँ तुम भी भूलते हो स्त्री शक्ति है वह सृष्टि है यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है। वह विनाश है यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है। इसलिए जो मनुष्य स्त्री से भय खाता है। वह या तो अयोग्य है या कायर। अयोग्य और कायर दोनों ही व्यक्ति अपूर्ण है।"<sup>69</sup> नीर और पुरुष प्रेम के संबंध में बराबर के अधिकारी हैं। नारी को भी अपने मूल्यों के आधार पर प्रेम करने की स्वतंत्रता है। प्रेम भक्ति नहीं है इसलिए एक ओर से नहीं होता, प्रेम संबंध वह दोनों ओर से होता है। पिपासा होती है आत्म विस्मरण होता है वहाँ तृप्ति का कोई स्थान नहीं प्रेम में आत्म बलिदान होता है। वह एक ओर से नहीं दोनो ओर से।"<sup>70</sup> चित्रलेखा नारी को पुरुष द्वारा अद्वितीय ठहराने की चाल का पुरजोर विरोध करती है।

## प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि का विकास :

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में जैनेन्द्र महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। त्यागपत्र (1937), कल्याणी (1939), सुखदा (1952) प्रमुख उपन्यास हैं। 'त्यागपत्र' में नारी जीवन की समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत करना नहीं रहा है, अपितु भारतीय समाज के फलक पर एक नारी के नारकीय यंत्रणापूर्ण त्रासदायक स्थितियों को पूरी शिद्दत के उद्घटित कर देना रहा है। मृणाल उपन्यास की नायिका है जिसका जीवन यौन शुचिता के नाम पर कलंकित कर दिया गया वह कहती है— "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद टूटती रहूँ।"<sup>71</sup> मृणाल का अभिशप्ता को स्वीकार कर लेने की यह विवशता सम्पूर्ण नैतिक सामाजिक मूल्यों को प्रश्नांकित कर जाता है साथ ही यह भी संकेतिक करता है कि व्यवस्था में जीना है तो व्यवस्था को विरोध आप कर ही नहीं सकते, व्यवस्था का विरोध उसके बाहर रहकर ही अच्छी तरह से किया जा सकता है। इस संदर्भ में ज्योतिष जोशी का कथन है कि— "विरोध समाज के बाहर रहकर ही हो सकता है पर उसका तरीका यह सविनय अवज्ञा ही है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के साहित्य में जीवन का बोध भी समाज के सापेक्ष होता है समाज से बाहर जैसे जीवन को समझना और जी पाना संभव ही नहीं है। यहाँ जीवन की सार्थकता व्यथा की प्रतीति में है जिससे तिल-तिलकर तिरोहित होती जा रही मानवीय संवेदना की प्राण प्रतिष्ठा है और सबको द्रवित करने वाली मार्मिक सरलता भी है।"<sup>72</sup>

त्यागपत्र में मृणाल इससे मुक्ति नहीं तलाशती अपितु वह इसे अपनी नियति मानकर स्वीकार कर लेती है। वह पुरुष समाज से किसी प्रकार के प्रतिदान की अपेक्षा नहीं करती है। "जिसको तन दिया उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। तन की जरूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी शायद यह अनिवार्य हो पर लेना कैसे? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है?"

उससे मन माँगा जाएगा, तन भी माँगा जाएगा, स्त्री का आदर्श और क्या है? पर उसकी विक्री न यह न होगा।”<sup>73</sup> मृणाल का यह कथन सामाजिक व्यवस्था के चारित्रिक स्वरूप के ऊपर तीखा व्यंग्य है। जहाँ नारी संवेदनाओं के लिए कोई जगह नहीं बचती है। वह हाड़ मांस का पुतला मात्र है। उन्हें पुरुष समाज द्वारा निर्धारित मानदण्डों के अनुकूल आचरण करने को बाध्य होना पड़ता है। जैनेन्द्र ने स्त्री पात्र के संदर्भ में भले ही कुछ वर्जनाएं हो पर नारीवादी चेतना को भी यथास्थान दिया है। “यह सही है कि जैनेन्द्र अपनी नायिकाओं के लिए विद्रोह और आधुनिकता का निर्देश नहीं देते, वे उसे सद् गृहस्थान और पुरुष के लिए प्रेरणा के सिंहासन पर बिठाना चाहते हैं। और इस प्रकार उसे शक्ति नहीं शक्ति के सुन्दर स्रोत के रूप में देखना चाहते हैं लेकिन यह हकीकत है कि जैनेन्द्र के रचना संसार में नायिकाएँ लेखक से बार-बार विद्रोह कर देती हैं। वे जैनेन्द्र के स्वप्नों एवं मंतव्यों से आत्मा डगर पकड़ने लगती हैं और इसी कारण वे प्रायः अपने लेखकीय पाठ से पृथक स्वतंत्र पाठ की गुंजाइश बनाती हैं।”<sup>74</sup>

मनोवैज्ञानिक उपन्यास धारा के प्रमुख हस्ताक्षर प्रयोगवाद के उन्नायक रचनाकार अज्ञेय प्रेमचन्द्रोत्तर युग के लेखकों में शुमार किये जाते हैं। इनके उपन्यास ‘शेखर एक जीवनी’ (1941-44), ‘नदी के द्वीप’ (1951) प्रमुख हैं। शेखर एक जीवनी अज्ञेय का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास रहा है। “हिन्दी में ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं के केन्द्र में समाज का कोई वर्ग होता है और चरित्र उस वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं। इसके अलग वे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं के केन्द्र में व्यक्ति होता है और व्यक्ति चरित्र के व्यक्तिगत गुणों, जीवन के अनुभवों और मानवीय संबंधों के माध्यम से समाज व्यक्त होता है।”<sup>75</sup>

अज्ञेय अपने औपन्यासिक रचनाकर्म में सामाजिक यथार्थ से जुड़े प्रश्नों को उपस्थित करते हैं, उसमें सर्वाधिक विचारोत्तेजक मुद्दा नारी संबंधी उनके विचारों को लेकर है। उन्होंने समाज में प्रचलित नैतिक अवधारणाओं को न केवल चुनौती दी है अपितु स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को समझने का नया व्याकरण भी निर्मित किया है। उनका



विचार था हमारे सामाजिक मूल्य, नैतिक आग्रह, पुरानी हो चुकी जड़ परम्पराएं स्त्री समाज को अनुकूलित करती हैं। “इस पुरुष प्रधान सभ्यता को अपनी संपूर्णता में संतोष तोड़ देना होगा, उसका यह औचित्य का दावा झूठा कर दिखाना होगा, तभी हमें आगे बढ़ने का मार्ग मिलेगा यह नारी मात्र में अविश्वास नारीत्व को ही पापात्मा मानने का षड्यंत्र नष्ट करना होगा।”<sup>76</sup>

‘शेखर एक जीवनी’ में शेखर को केन्द्र में रखकर अज्ञेय जी ने भारतीय समाज में नारी जीवन मूल्यों से जुड़े हुए कई प्रश्नों को उभाने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में प्रचलित हिन्दू विवाह पद्धति की भी कटु आलोचना की है। “शशि के साथ सम्बन्ध और उसकी गहरी संवेदना, मुक्ति और सार्थकता दोनों से जुड़ी हुई है। दोनों प्रेम के उस स्तर तक जाते हैं जहां कि पहुँचने के लिए उन्हें बहुत कुछ तोड़ना पड़ा और नए सिरे से सिरजना पड़ा। सबसे बड़ी गाँठ जो शशि और शेखर को खोलनी पड़ी वह शशि के हिन्दू संस्कारों की है। जिसमें देह की पवित्रता और उसके जूटे होने का अहसास है लेकिन बहुत कशमकश के उपरांत इसे भी खोलने में दोनों सफल हुए। यह भी विद्रोह का एक रूप है। एक सूक्ष्म मानसिक विद्रोह।”<sup>77</sup> शशि का व्यक्तित्व नारी जागरण का प्रतीक है। उसमें क्षणिक उतावलापन न होकर गंभीर विचार दृष्टि दिखलाई पड़ती है। “आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श किन्तु अभिमान की काई के नीचे आदर्श क्या कभी बहता है कि बँधकर सड़ गया है ? गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है, किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है, सख्य तो दूर करुणा भी देय नहीं रही और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है। निरी सामग्री जिसे जब चाहे, जहाँ चाहे अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे।”<sup>78</sup> यह कथन भारतीय समाज में पुरुषवादी दृष्टि पर एक प्रहार है, जिससे स्त्री-वर्ग की ओर से दिया गया है। यह मुक्ति का अनोखा प्रयास है। अज्ञेय जी के उपन्यास मनो-विश्लेषणात्मक होते हुए भी सामाजिक धरातल पर प्रमुख मुद्दों के समक्ष मुखर होते हैं।

यशपाल के उपन्यास उनके जीवन-दर्शन के साक्षी हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष की परंपरागत संहिता को चुनौती दी है। वस्तुतः यह चुनौती सन् 1920 के दशक से ही उपन्यास साहित्य में दस्तक देने लगी थी, जिसे जैनेन्द्र और अज्ञेय ने जोरदार ढंग से मुखरित किया था। यशपाल के इस दर्शन और चुनौती को हम उनके उपन्यासों 'दादा कामरेड' (1941), 'दिव्या' (1945), 'अमिता' (1956) में देख सकते हैं। यशपाल ने स्त्री के मुक्त प्रेम और काम सम्बंध का समर्थन किया है, इसका कारण यह है कि वे प्रेम और काम व्यापार को एक जीव शास्त्रीय क्रीड़ा मानते हैं और उसमें पुरुष की अधिकार भावना को चुनौती देते हैं। 'दादा कामरेड' यशपाल का प्रथम उपन्यास है। इसकी नायिका 'शैल' काम विषयक किसी भी परंपरागत मूल्य को स्वीकार नहीं करती। वह एक साथ कई व्यक्तियों से प्रेम करने में कोई अनैतिकता नहीं देखती। पर, ज्यों ही उसका प्रेमी उसके शरीर पर एकाधिकार कायम करना चाहता है, वह उसका त्याग कर देती है। शैल का प्रेमी हरीश जब उसे नग्न रूप में देखन की इच्छा प्रकट करता है तो वह स्वीकार कर लेती है। यह रोमांस आलोचकों को अवश्य खटकता है। इसका उत्तर देते हुए यशपाल लिखते हैं— "दादा कामरेड की शैल, नाक भौं सिकोड़ने वालों की अतृप्त किन्तु जागरूक सक्रिय प्रवृत्ति है।"<sup>79</sup>

'दिव्या' यशपाल की दिव्य ऐतिहासिक सृष्टि है। उपन्यास की पृष्ठभूमि ई०पू० दूसरी शताब्दी में यवन शासक मिलिन्द के बाद का शासन काल है। यशपाल का नारी विषयक दृष्टिकोण 'दादा कामरेड' में देखा जा चुका है। प्रस्तुत उपन्यास के कल्पित कथा संसार के माध्यम से कथाकार ने शताब्दियों से चले आ रहे पुरुष प्रधान सत्ता को रेखांकित करते हुए, स्त्री के समान अधिकारों की वकालत की है। वैदिक काल में नारी के स्थिति प्रायः पुरुषों के समकक्ष थी। धीरे-धीरे पुरुष समाज उसे अधिकारों से वंचित कर भोग की सामग्री के रूप में परिणत करता रहा। उसके लिए ऐसी संहिताएं निर्मित की गईं जो उसके अधिकारों को सीमित करने के साथ आर्थिक दृष्टि से पराधीन बनाने वाली थीं। बौद्ध धर्म के आविर्भाव के साथ ही नारी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक बंधनों से पूरी तरह जकड़ चुकी थी। पुरुष द्वारा निर्मित संहिता का उल्लंघन करने के

बाद उसका जीना मुश्किल हो जाता था। सामंती व्यवस्था में स्त्री भोग और संतानोत्पत्ति का साधन समझी जाती थी। केवल वेश्या के रूप में स्त्री को स्वतंत्रता प्राप्त थी, पर उस रूप में उसकी अलग त्रासदी थी। 'दिव्या' एक अभिजात्य ब्राह्मण कुल की कन्या और अपनी नृत्य कला के लिए 'सरस्वती पुत्री' का सम्मान प्राप्त करने के बावजूद श्रेष्ठ खड्गधारी, परन्तु दास पुत्र पृथुसेन से प्रेम और देह संबंध स्थापित करने के कारण समाज द्वारा असह्य हो जाती है। कुवारी माँ के लिए भारतीय समाज में कोई स्थान नहीं है। समाज से बाहर आते ही वह दास-व्यापारियों के जाल में फँसकर पण्य वस्तु बन जाती है और नाना प्रकार की यंत्रणाओं से गुजरते हुए अंततः आत्महत्या का प्रयास करती है। किसी प्रकार उसकी प्राण रक्षा हो जाती है, पर अपने श्रेष्ठ गुणों के बावजूद उसे सम्मानपूर्ण जगह नहीं मिल पाती है और वह वेश्या जीवन अपनाने को विवश हो जाती है। यह ई०पू० भारतीय नारी की नीयति थी, जिसे यशपाल ने सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु यशपाल यहीं नहीं रह जाते, उनकी दिव्या अभिजात्य वर्ग के प्रेमियों का तिरस्कार करके चार्वाक धर्मी मारिश को आत्मसमर्पण कर देती है, जो स्त्री-पुरुष के मुक्त, नैसर्गिक सम्बन्ध में विश्वास करता है। वस्तुतः यही यशपाल का नारी दर्शन है, जो दादा कामरेड से होकर यहाँ तक पहुँचा है। दिव्या के सम्बन्ध में मधुरेश का कथन महत्वपूर्ण है— "दिव्या स्वतंत्र नारी नहीं है; इसलिए अपनी इच्छा से वह बौद्ध धर्म में प्रवर्जित होने का भी अधिकार नहीं रखती, जबकि वेश्या एक स्वतंत्र नारी होने से यह अधिकार रखती है।"<sup>80</sup>

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1947) में भी स्त्री विषयक दृष्टिकोणों की व्याख्या मिलती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार दृष्टव्य हैं— "बड़े करुणाजनक संयोगों के बीच से मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दसमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है .....निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और पूजा का पात्र हो सकती थी पर हुई नहीं .....निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है।"<sup>81</sup> इस उपन्यास की स्त्री

पात्र भट्टिनी भारतीय साधना पद्धति और विदेशी विचार-प्रवाह के अपेक्षित सन्तुलन पर बल देती है।

ऋषभचरण जैन ने उग्र की प्रगतिवादी शैली में दिल्ली महानगर में फैले भ्रष्टाचार, वेश्याओं की जीवन पद्धति व्यभिचारिणी स्त्रियों के रहस्यमय चरित्र और काली करतूतों, वेश्याओं के कारण समाज में फैलने वाले अपराध आदि के चित्रण में विशेष रुचि ली। इन्होंने 'दिल्ली का व्यभिचार' (1928), 'वेश्यापुत्र' (1929), 'दिल्ली का कलंक' (1936) जैसे जीवन पर आधारित उपन्यासों की रचना की। इनमें विधवा विवाह, अंतरजातीय विवाह, विवाहपूर्व प्रेम, हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों, पुरुष समाज की निष्ठुरता, कामलिप्सा तथा स्त्रियों पर किये जाने वाले अत्याचार, नारी के प्रति घृणा का भाव आदि विषयों का चित्रण हुआ है। पर, इनकी विशेष ख्याति दिल्ली के अपराध जगत और वेश्या समाज के चित्रण को लेकर है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने वैशाली की नगरवधू (1949) में बौद्ध साहित्य के राजनीतिक संघर्षों का अंकन किया है। इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्कृतियों के अंकन में शास्त्री जी ने विशेष रुचि दिखाई है। गणतंत्र तथा राजतंत्र दोनों ही व्यवस्थाओं में व्याप्त सामाजिक अन्तर्विरोधों और नारी की त्रासद् स्थिति का चित्रण करते हैं।

'उखड़े हुए लोग' (1956) की 'माया देवी' का अपने पति से स्वस्थ संबंध नहीं है, अतः वह विवाहेत्तर संबंध रखती है और अपने अवैध संबंध को सही ठहराने के लिए नारी स्वतंत्रता के नाम पर अपने पति को विषपान करा देती है। नारी कभी-कभी अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग इस स्तर तक जाकर करती है कि बदलते हुए सकारात्मक मूल्यों के साथ घृणित नकारात्मक मूल्य भी दिखाई पड़ते हैं। जो समाज संरचना को भी प्रभावित करते हैं।

'डूबते मस्टूल' (1954) की 'रंजना' पुरुष के शोषण का शिकार हो जाती है जिसके कारण वह परम्परा और पुरुष के प्रति वितृष्णा से भर उठती है। वह अपनी

बेबसी पर विक्षुब्धा हो उठती है। “नारी जब भी तुम्हारी बनाई परम्परा को तोड़ तुम्हारे इस माध्यम आवरण को नहीं मानना चाहती तब उसे जीवन चलाने के लिए, जाँघे, बाँहे, सब शरीर का एक-एक अंग अपने आपको पूरा का पूरा नीलाम करना पड़ता है। चार आने जैसे तक की कीमत पर नारी समझौता करती है।” रंजना के माध्यम से लेखक ने भारतीय नारी की वास्तविक, मनोव्यथा को अभिव्यंजित किया है जो सदियों से लेकर आज तक अपने उत्पीड़न एवं शोषण से उबर नहीं सकी। रंजना एम0ए0 पास है किन्तु अपनी योग्यता के अनुसार उसे नौकरी नहीं मिल पाती। उसकी पारिवारिक स्थिति बिना अर्थोपार्जन के नहीं चल सकती।

### साठोत्तरी उपन्यासों में स्त्री-मुक्ति का संदर्भ (पुरुष लेखन के संदर्भ में) :

सन् 60 के बाद हिन्दी उपन्यासों में मध्यवर्गीय मानव के संघर्ष कुण्ठा, निराशा एवं मानसिक द्वन्द का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। जीवन को समग्रता के साथ चित्रित एवं विश्लेषित करने में इन उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बीसवीं शताब्दी के सातवें एवं आठवें दशक में समाज के स्थान पर व्यक्ति का महत्त्व बढ़ा है। व्यक्ति ने समाज के परम्परागत मूल्यों, मान्यताओं और सामाजिक बन्धनों के प्रति अस्वीकार प्रदर्शित कर सामाजिक रूढ़ियों को नकारा है। व्यक्ति की रूचि एवं आकांक्षाओं में जब सामाजिक रूढ़ियाँ, मूल्य एवं मान्यताएं बाधक बनती हैं तो उसके मन में इनके प्रति स्वीकार एवं अस्वीकार का संघर्ष उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप द्वन्द्व तनाव, ऊब, अजनबीपन एवं घुटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस समय के उपन्यासों में इन्हीं परिस्थितियों को प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है।

स्वतंत्रता के पश्चात् साहित्य में ज्ञान-विज्ञान के सहारे प्रत्येक मनुष्य को अधिकार एवं अधिकारों के दायित्व से परिचित कराया गया परिणामतः नवजागरण का संदेश मानवीय चेतना के रचनात्मक आयाम के रूप में प्रतिफलित होकर मूल्य की व्याख्या करने लगा। ब्रिटिश सत्ता के द्वारा शिक्षित भारतीयों को आर्थिक सहयोग देकर तथा विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के माध्यम से जिस माप और मूल्य को स्थापित

करने का प्रयास किया गया उनमें स्त्री के अधिकार और कर्तव्य बोध को विशेष रूप से रेखांकित करने का प्रयत्न है। भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष का जो अन्तर्सम्बन्ध सदियों से चला आ रहा है उससे शिक्षा, आत्मनिर्भरता और अपने अधिकार एवं कर्तव्यबोध के फलस्वरूप स्त्रियों की मानसिकता को नया रूप मिला है। यह स्थिति 1960 के बाद भारतीय उपन्यास साहित्य में जिस रूप में उभरती है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतंत्रता के अभाव में स्त्रियों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाया।

सन् 1960 के बाद के उपन्यासों में मुख्य रूप से यथार्थ के कटु एवं चुभते विषैले तेवर दृष्टिगोचर होते हैं। इन उपन्यासों में वर्णित नारी पुरानी भावुकता से ऊपर उठ चुकी है और उसके मन में प्राचीन मान्यताओं, मूल्यों और रूढ़ियों के प्रति अस्वीकार उत्पन्न हो चुका है साथ ही उनकी नैतिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आया है। सामाजिक वर्जनाओं को उसने तोड़ा है तथा परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया है। आलोच्य काल में आते-आते हिंदी उपन्यासों में पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय स्त्रियों का प्रवेश होने लगा था। कथ्य, विजन और सर्जनशीलता की दृष्टि से नयेपन की संभावनाएं तलाशते उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के बीच मुक्त प्रेम और नैतिक संहिता से उसका टकराव, मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व तथा स्त्री के परपुरुष से प्रेम का उसका नैसर्गिक अधिकार की प्रतिष्ठा होती दिखाई पड़ती है। विवाह को नारी जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना मानने वाली स्त्री पात्रों के दर्शन तो पाँचवें दशक (निमंत्रण 1942, भगवतीचरण वाजपेयी) में ही होने लगे थे। 'प्रेम त्रिकोण' का संदर्भ जैनेन्द्र के सुनीता से लेकर अनामस्वामी तक देखा जा सकता है नागार्जुन के रति नाथ की चाची बलचनमा, नई पौध तथा कुम्भीपाक आदि उपन्यासों में ऐसी विधवाओं का चित्रण मिलता है। जिसमें उसे जीवित मृत की पीड़ा भुगतनी पड़ती है जहाँ आठ-दस वर्ष की बालिकाओं का विवाह साठ-पैंसठ वर्ष के बूढ़ों से कर दिया जाता था और कुलीनता के नाम पर एक व्यक्ति से दर्जनों कन्याएं ब्याह दी जाती थीं। इसके चलते विवाहिताओं को घोर यातनाओं के साथ-साथ व्यभिचार के लिए बाध्य होना पड़ता था। बलचनमा में

मजदूरों की बहन-बेटियों का यौन शोषण जमींदारों द्वारा होता है। यह ऐसी कड़वी सच्चाई है जिसका चित्रण प्रेमचंद्र के उपन्यासों में भी नहीं मिलता।

कथा की दृष्टि से अमृत लाल नागर जी का उपन्यास नाच्यौ बहुत गोपाल (1978) का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी नायिका निर्गुनियाँ ब्राह्मण कन्या अपनी दुर्दमनीय कामावेग के चलते एक भंगी युवक से प्रेम कर बैठती है और उसके साथ भाग जाती है इसके बाद ब्राह्मणी से दलित में रूपांतरण के कारण उसका वीभत्स भयानक सामाजिक शोषण शुरू होता है। कामावेग और उसके संघर्ष के साथ-साथ ब्राह्मणी का दलित स्त्री में रूपांतरण ही इसका महत्वपूर्ण पक्ष है।

बलभद्र ठाकुर के उपन्यास 'देवताओं के देश में' (1960) कुलु अंचल के पर्वतीय सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में वहाँ के संघर्षपूर्ण कठोर जीवन और सांस्कृतिक वैभव को सजीवता के साथ उभारने का प्रयास है। "'नत्थी' जैसी तेजस्वी और राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण नारी के माध्यम से उपन्यासकार ने नारी शक्ति के जागरण का सजीव अंकन किया है। नत्थी अपने अवांछित, धनी पर वृद्ध, पति से मुक्ति के लिए घोर संघर्ष करती है और अंततः प्रेमी निरतू के साथ भागने का साहस दिखाती है। बाद में वह देश की स्वतंत्रता के लिए हिंसक विद्रोह का मार्ग अपनाती है और ब्रिटिश शासन की क्रूर पुलिस को लोहे के चने चबवा देती है।"<sup>82</sup>

आंचलिक उपन्यासकार रेणु जी के दीर्घतपा (1964) परिवर्तित संस्करण 'कलंक मुक्ति' नाम से 1972 में प्रकाशित लघु उपन्यास में छात्रावासों के अंदर पनपने वाले यौन शोषण का चित्रण हुआ है। आज भी नारी कल्याण की अनेक संस्थाएं नारी कल्याण का मुखौटा लगाकर देह व्यापार में लगी हुई है। मिस बेला गुप्त इससे संघर्ष करती है पर टूट जाती है और उलटे उसी को जेल हो जाती है। यद्यपि बेला बहुत निर्भीकता से संघर्ष करती है, किंतु उसकी पराजय विश्वसनीय नहीं बन सकी है। रेणु पर शरत् का अवांछनीय प्रभाव हैं जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास की नारियाँ आत्म बलिदान को आदर्शोवृत्त करती हैं, दीर्घतपा में यही हुआ है।

नरेश मेहता के उपन्यास यह पथ बंधु था (1962) में भारतीय नारी की करुणा से भरी नियति कथा है जो सरस्वती और गुणवन्ती के माध्यम से व्यक्त हुई है। सरस्वती मध्यवर्गीय परिवार की बहू है। उसका पति झूठे आदर्शों, मूल्यों की रक्षा के लिए उसे छोड़कर चला जाता है। इस बीच जेट-जेठानी द्वारा वह प्रताड़ित होती है। सरस्वती का पति तो लौट भी आता है। किंतु उसकी पुत्री गुणवन्ती को तो दहेज लोभी पति, सास-ससुर मारपीट कर अपंग बना देते हैं और घर से निकाल देते हैं इसी क्रम में इनके प्रथम फाल्गुन (1968), तथा उत्तर कथा (दो भाग) उपन्यासों का उल्लेख कर लेना उचित प्रतीत होता है। प्रथम फाल्गुन में महिम और गोपा (जारज संतान) के प्रेम को विषय बनाया गया है। उत्तर कथा महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह पथ बंधु था की सरो उत्तर कथा में नये रूप में प्रकट हुई। इसकी नायिका दुर्गा है। जिसमें धैर्य विश्वास करुणा के साथ चट्टान सी दृढ़ता है। दुर्गा एक आम भारतीय नारी की नियति की प्रतीक बन कर रह गई है।

फिल्मी अंदाज में उपन्यास लिखने वाले कमलेश्वर के उपन्यास पति पत्नी और वो के विजन पर आधारित है। तीसरा आदमी (1976) का नायक अपनी पत्नी को हमेशा शक की निगाह से देखता है। उसकी उपेक्षा करता है। एक दिन उसका यह शक उसकी उपेक्षा दाम्पत्य जीवन में जहर घोल देती है। उसकी पत्नी का झुकाव अपने देवर की ओर हो जाता है और वह स्वयं तीसरा आदमी बनकर रह जाता है। वही बात (1980) में भी वही बात है। एक मध्यवर्गीय पत्नी अपने इंजीनियर पति की व्यस्तता से ऊबकर उसके बास से संबंध बनाती है और पुनः अपने पति की ओर लौटती है। इस प्रकार कमलेश्वर के औपन्यासिक फलक पर मध्यवर्गीय दाम्पत्य स्त्री को धन वैभव और शरीरिक तृप्ति की ओर झुकते दिखाया गया है। किंतु आज की जीवन शैली को देखते हुए स्त्रियों का व्यवहार असंगत नहीं प्रतीत होता।

शैलेश मटियानी के स्त्री-मुक्ति विषयक उपन्यासों में बोरीवली से बोरी बन्दर तक (1959) कबूतर खाना (1960), किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई (1961), एक मूठ सरसों (1962) का नाम उल्लेखनीय है। उपरिलिखित प्रथम तीन उपन्यासों में मुम्बई की

---



गंधाती गलियों की गजालत भारी जिंदगी की कहानी है। अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास, व्यभिचार नारी की अतृप्ति, आवारा समाज, कबूतर खानों और सेठों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक, आलीशान होटलों से लेकर चौराहों तक चलने वाले देह व्यापार का प्रामाणिक चित्रण प्रकृतिवादी शैली में मिलता है। चौथी मुट्ठी (1961) और एक मूठी सरसों (1962) में पहाड़ी अंचल की स्त्री की पीड़ा जो पुरुष प्रधान सत्ता की अनिवार्य देन है का मार्मिक चित्रण हुआ है। एक मूठी सरसों का मार्मिकता पर टिप्पणी करते हुए गोपाल राय लिखते हैं— “स्त्री की व्यथा इतने सशक्त और मार्मिक रूप में प्रस्तुत की गयी हैं कि इसे दर्द की कविता कहने की इच्छा होती है। झुटकेली (वर्णसंकर) शिशु की सामाजिक अवज्ञा और अपमान को भी उपन्यासकार ने संवेदनात्मक तीव्रता के साथ व्यक्त किया है।”<sup>83</sup> मटियानी के अंतिम दौर के उपन्यासों गोपुली गफूरन (1981) बावन नदियों का संगम (1981) आदि परंपरागत नारी संहिता के विरुद्ध गर्भ धारण के कारण यातना झेलती स्त्री है, बूढ़ी वेश्याएं हैं। इनमें शरीफ कहे जाने वाले समाज की वेश्यागिरी हैं, इनमें विद्रोहात्मक चेतना को उद्घाटित करने का प्रयास हुआ है। मटियानी जी के उपन्यासों का परिवेश भले ही आंचलिक है किंतु उस पुरुषसत्ता प्रधान समाज में नारकीय पीड़ा झेलती और लगातार संघर्ष करती स्त्री की गाथा ही प्रस्तुत हुई है। इनके नारी पात्र शरत चंद्र के उपन्यासों की तरह करुण, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान और मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में आए पात्रों की तरह जुझारू हैं।

आलोच्य युग में भीष्म साहनी के कड़ियाँ (1970) उपन्यास की कथा वस्तु मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन की कटुता और स्त्री की असहाय स्थिति से संबद्ध है। मध्यवर्गीय नारी नैतिकता के बंधन और आर्थिक विफलता के कारण ही यातना झेलती है। स्त्री घर का चूल्हा-चौका करती है, गृहस्थी सम्भालती है जिससे वह आर्थिक रूप से अक्षम है। पुरुष कमाता है इसलिए उसके पास आर्थिक संपन्नता होती है। इसके चलते वह स्त्री पर वर्चस्व स्थापित करता है और उसे प्रताड़ित करना अपना अधिकार समझता है।

महेन्द्र भल्ला कृत 'एक पति के नोट्स' का कथ्य आधुनिक बुद्धिवाद से निर्देशित पात्रों पर केन्द्रित है। जिसमें पति-पत्नी एक दूसरे को उन वस्तुओं की तरह समझते और देखते हैं जो पुरानी हो जाने पर ऊब पैदा करती है। इस भाव बोध में विवाह एक गैर जरूरी बंधन है जो सुंदर को असुंदर और प्रेम को ऊब में बदल देता है। इसके पात्र भावना से बुद्धि को त्याग से भोग को और प्रेम से रति कर्म को अधिक महत्व देते हैं। निष्कर्षतः यह भाव बोध उपभोक्तावादी संस्कृति की ही देन है।

रति कर्म जनित यौन रोग और समलैंगिकता से ग्रसित स्त्रियों की मानसिक कुंठाओं का सजीव चित्रण राजकमल चौधरी के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। देह गाथा (1966) मछली मरी हुई (1966) उपन्यासों में उपर्युक्त संवेदनाओं का प्रामाणिक चित्रण मिलता है। इनका औपन्यासिक संसार एक बदबूदार नाली सदृश है जिसमें घिनौने और जहरीले कीड़े कुलबुला रहे हैं। मछली मरी हुई समलैंगिक स्त्रियों की मनोवृत्ति और व्यवहार की कहानी है। किंतु उपन्यासकार की पीड़ित संवेदना मरी हुई मछली के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त होती है कि वह फूहड़ नहीं लगती।

स्त्री की सामाजिक समस्याओं और उसके संघर्ष को ध्यान में रखते हुए अमरकांत जी के 'ग्राम सेविका', 'सुन्नर पांडे की पतोहू' का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्राम सेविका में दमयंती नामक संघर्षशील दृढ़निश्चयी युवती की कथा है। वह न केवल ग्राम वासियों की चेतना जागृत करती है वरन् अंधविश्वास और अशिक्षा को भी दूर करने में सफल रहती हैं। यही नहीं सामाजिक मान्यताओं से लोहा लेते हुए एक विधुर से अंतरजातीय विवाह भी करती है। इस उपन्यास में ग्राम प्रधान विचित्र नारायण दुबे के माध्यम से अमरकांत ने अभिजात्य और प्रबुद्ध वर्ग की स्त्री के प्रति दोहरी मानसिकता का चित्रण किया है जिसमें वे सुरक्षा की गारंटी देने के बहाने उसका यौन शोषण करना चाहते हैं— "प्रधान जी का मन दमयंती के कमरे में उड़ रहा है। इस समय वह सोई होगी। उसका शरीर फूल की तरह पड़ा होगा। प्रधान का कलेजा धड़कने लगा।

उनका खून गर्म होने लगा।<sup>84</sup> प्रधान जी को अपने पुरुषार्थ का आभास होता है और दमयंती के निवास की ओर आधी रात को निकल पड़ते हैं। दमयंती को झूठी सूचना देते हैं कि उसके घर के आस-पास कुछ बदमाश टहल रहे थे। यदि वह चाहे तो प्रधान सुरक्षा में रात भर उसके यहाँ सो जाएँ। दमयंती अपनी अस्मत् बचाने में सफल रहती है तथा गाँव वालों में ऐसी चेतना जागृत करती है कि विचित्र नारायण की पोल खुल जाती है और प्रधानी से भी हाथ धो बैठते हैं। दमयंती उस पढ़ी लिखी स्वावलम्बी युवती का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने अधिकारों और कर्तव्य के प्रति सचेत है। 'सुन्नर पांडे की पतोहू' में एक ऐसी स्त्री का चित्रण है जो पति वियोग में तड़पती, समाज की उलाहना सहती एकाकी जीवन बिता रही है। शीर्षक से ही पता चल जाता है कि समाज में स्त्री की पहचान उसके पति या उसके संरक्षक से होती है। सुन्नर पांडे की पतोहू अपने पति के आगमन की बाट जोहते जीवन बिता देती है और जब पति वृद्धावस्था में लौटता है तो वह मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। वह समाज की एक महिला की प्रतीक है जो नियति और आदर्श में बंधी हुई घुट-घुट कर जीने के लिए विवश है और पातिव्रत्य धर्म में विश्वास करने के कारण अपने जीवन को सार्थक बनाने के बजाय नरकतुल्य बना लेती है। कुल मिलाकर सुन्नर पांडे की पतोहू प्रेमचंद की आदर्शवादी नारी पात्र की परंपरा को ही आगे बढ़ाती है। स्त्री शिक्षा के पक्षधर अमरकांत के उपन्यासों में नारी के सामाजिक यथार्थ का, अस्मिता पर संकट का, उसके संघर्ष और आत्मविश्वास का प्रामाणिक चित्रण मिलता है।

मिथलेश्वर के युद्ध स्थल (1981) उपन्यास में रामशरण बहू नामक उच्च जाति की स्त्री की व्यथा-कथा है। पिछड़ी मानसिकता से ग्रस्त ग्रामीणों द्वारा उसे डायन घोषित किया जाता है जिससे वह अपमान, भय और जलालत भरी जिंदगी जीती है। नारी अस्मिता पर केन्द्रित अन्य उपन्यासों में गुलरा बेगम (1981) (शरद पगारे), उस चिड़िया का नाम (1989), (पंकज बिष्ट), कुलटा (राजेन्द्र यादव) का नाम भी उल्लेखनीय है।

## साठोत्तरी उपन्यासों में स्त्री मुक्ति का संदर्भ (महिला लेखन के सन्दर्भ में) :

स्वतंत्रोत्तर उपन्यास विधा को समृद्धशाली बनाने में महिला लेखन का महत्वपूर्ण योगदान है। इन लेखिकाओं ने नारी अस्मिता को पुरुषवादी मूल्यांकन से निकालते हुए बहुत ही आक्रामक भाव से स्त्री की पहचान, उसकी शक्ति और अधिकारों की बात की। आजादी के पहले उपन्यासों के केन्द्र में 'किसान समस्या' को प्रमुखता मिली। स्त्री की समस्याएं दायम दर्जे पर थीं। इसका कारण उस समय के लेखन पर नवजागरण चेतना का प्रभाव था। पुरुष उसके उद्धार की बात स्त्री संहिता के घेरे में ही करता था। आजादी के उपरान्त स्त्री शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया लेकिन उसके 'सी

हक में सबसे बड़ी उपलब्धि 'हिन्दू कोड बिल' के पारित होने से मिली। उपन्यास साहित्य में 60 का दशक महिला रचनाधार्मिता के विस्फोट के रूप में जाना जाता है। इन लेखिकाओं ने अपने उपन्यास में स्त्रियों को दुनिया के जिन बाहरी-भीतरी तकलीफों और छटपटाहट को अभिव्यक्ति दी है वैसा इसके पहले न कभी संभव हुआ था और न ही सोचा गया था। लेखन के क्षेत्र में उभरता उनके लिए आसान न था। पुरुषवादी मानसिकता के द्वारा स्त्री लेखन को जनाना साहित्य, जनाना सोच और सीमित अनुभव का संसार कहकर हाशिए पर ढकेलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। निर्मला जैन लिखती हैं "इतिहास साक्षी है कि पुरुष ने स्त्री को जिन दो मोर्चों पर लगातार मात दी है उसमें एक है अर्थ और दूसरा सेक्स। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के लिए संघर्ष करती स्त्री, महिला लेखिकाओं की प्रिय है। मध्य वर्ग की स्त्रियों के सामने यह स्थिति एक ओर पारिवारिक संबंधों में जटिलता और तनाव पैदा करती है और दूसरी ओर व्यक्तियों के बची टकराहट। इन समस्याओं को बड़ी मार्मिकता से तमाम महिला लेखिकाओं ने उठाया है। जहाँ वे अनुभव से प्रेरित हैं वहाँ वे प्रभावित तो करती ही हैं, विचारोत्तेजना भी पैदा करती हैं। आत्म सजगता का एक

और रूप विरोध जन्य साहसी लेखन दिखाई पड़ता है। यह साहसिकता प्रायः दो रूपों में प्रकट होती है— भाषिक प्रयोगों में और सेक्स चित्रण में।<sup>85</sup>

20वीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में महिला लेखन मूलतः स्त्री समस्या केन्द्रित बना रहा किंतु वाह्य जगत के साथ बढ़ते संबंधों ने उसके विजन को और व्यापक बनाया। हाशिए पर खड़ी इस स्त्री ने अब निजी पीड़ाओं के संसार से बाहर आकर वैयक्तिकता की तलाश करनी शुरू कर दी है। अब वह समाज को और खुद को नए सिरे तलाश रही है। उसकी आकांक्षा स्त्री की बजाय व्यक्ति होने की है।

शशिप्रभा शास्त्री आधुनिक नारीचेतना सम्पन्न लेखिका हैं। उनकी यह नारी चेतना पश्चिमी आन्दोलनों से उद्देलित एवं परिचालित न होकर उनकी अपनी विवेक चेतना की अभिव्यक्ति है। इन्होंने अमलतास (1968), नावें (1974), सीढ़ियाँ (1976), परछाइयों के पीछे (1979), क्योंकि (1980), कर्क रेखा (1983), उम्र एक गलियारे की (1989), सागर पार का संसार (1989), जैसे चर्चित रचनाएं की हैं। 'अमलतास' की कथा एक अभिजात वर्ग की उपेक्षित स्त्री की है। जो परम्परागत भारतीय पत्नी की भूमिका निभाने के बाद भी पतिप्रेम सम्मान से रहित परित्यक्ता का जीवन जीने को विवश है। जो जीने की तमाम शर्तों को स्वीकार करने के बावजूद सुखी जीवन नहीं जी पाती है। पढ़ी लिखी और अर्थिक रूप से स्वावलम्बी होने के बावजूद वह परम्परागत भारतीय नारी की संहिता से आक्रान्त है और अपनी यातनायुक्त जिन्दगी को नियति मानकर जीती है। 'नावें' की नायिका मालती की विपन्नता उसे बिन ब्याही माँ बनाने के लिए मजबूर करती है। उसके घर वाले भी इसे स्वीकार नहीं करते। मालती की माँ कहती है "एक लफ्ज भी नहीं सुनना चाहती। हमारे लिए तू मर गई। कुछ भी कह दूँगी हर किसी से पर तुझे फूटी आँख भी नहीं देख सकती।"<sup>86</sup>

'सीढ़ियाँ' उपन्यास की कथावस्तु एक सुशिक्षित एवं आर्थिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी अपने भाव जगत में परेशान होती स्त्री की है। उपन्यास की नायिका मनीषी अपनी सहेली के पुत्र सुकेत का पालन पोषण करती है किंतु वय में छोटा होने के

कारण उससे विवाह नहीं कर पाती है। मनोवैज्ञानिक शैली में लिखा गया यह उपन्यास नये और पुराने बोध में डोलती स्त्री की दशा का चित्रण करता है। गोपाल राय शास्त्री की औपन्यासिक दृष्टि की विवेचना करते हुए लिखते हैं— “शशिप्रभा शास्त्री के औपन्यासिक विजन का धुँधलापन उनके उपन्यासों को साधारण से ऊपर नहीं उठने देता। शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी उनमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है।”<sup>87</sup>

दिनेश नदिनी डालमियां ने मुझे माँफ करना (1974), आहों की वैशाखियों (1978), कन्दील का धुआँ (1980), फूल का दर्द (1986), आदि उपन्यासों के माध्यम से स्त्री लेखन को ऊँचाई प्रदान की है। इनके उपन्यासों के केन्द्र में मारवाड़ी समाज की स्त्री की व्यथा है जो रूढ़ नैतिक मूल्यों, पारिवारिक षडयन्त्रों, पुरुष की तानाशाहियों को सहती पीड़ा और तनाव झेलने को विवश है। “उनकी नारियाँ जीवन की विषमताओं को जीती अनेक यातनाएं सहती हुई भी समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के बाहर नहीं जातीं। नई पीढ़ी की स्त्रियां संयुक्त परिवार में दमघोंटू वातावरण से मुक्त होना चाहती हैं। पर स्वयं कुछ करने या अपने पैरों पर खड़ा होने की ताकत उनमें नहीं है।”<sup>88</sup>

कृष्णा सोबती की चर्चा साहसी लेखिका के रूप में होती है। क्योंकि इनके पहले किसी महिला कथाकार ने काम व्यापार को लेकर इतने खुले रूप में लेखन नहीं किया था। इन्होंने मित्रों मरजानी (1967), सूरजमुखी अंधेर के (1972), जिन्दगी नामा (1979), में मध्यवर्गीय पंजाबी स्त्री के विद्रोह को बड़ी प्रखरता के साथ दिखाया है। ‘मित्रो मरजानी’ के पृष्ठ भाग पर मित्रो का चरित्रांकन करते हुए लिखा है “न तो वह रवीन्द्र नाथ की आश्रयमयी है और न शरत या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी, बल्कि वह तो मात्र मांस मज्जा से बनी एक ऐसी नारी है, जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की हौंस भी और एक उद्यम वासना सरिता भी। उसे न आदर्श का मोह है न समाज का तथा न ईश्वर का भय। वस्तुतः वह नारी के सभी पुराने बिम्बों के खिलाफ एक नया आकर्षण है।”<sup>89</sup>

‘सूरजमुखी अंधेरे’ के उपन्यास स्त्री-पुरुष के संबंधों को लीक से हटकत दिखाया गया है। “इस उपन्यास में शिक्षित, आधुनिक, कामकाज करने वाली एक ऐसी लड़की की कहानी है जिसके फटे बचपन ने उसके सहज भोलेपन को असमय चाक कर दिया है और उसके तन-मन के गिर्द दुश्मनी की कँटीली बाड़ खींच दी है। अन्दर और बाहर की दोहरी दुश्मनी में जकड़ी स्त्री की लड़ाई मानवीय मन की नितान्त उलझी हुई चाहत और जीवट भरे संघर्ष का दस्तावेज है, गहन संवेदना के स्तर पर तन-मन की साँवली प्यास है।”<sup>90</sup>

स्त्री पुरुष संबंधों के बारे में उसमें जड़ता विद्यमान है क्योंकि “वह खुद सिर्फ है। उसका तीखापन, कड़वापन सब मर गये हैं। वह फीकी है, एक फीकी औरत, एक लड़की जो कभी लड़की नहीं थी। एक औरत जो कभी औरत नहीं थी। उसका वीरांगनापन कुण्ठा, उखड़ापन, अलगाव इन पंक्तियों में प्रत्यक्ष हो उठता है— “जिस सड़क का कोई किनारा नहीं स्त्री वही है। वह आप ही अपनी सड़क का डेड एण्ड है, आखिरी छोर है।”<sup>91</sup>

दीप्ति खण्डेलवाल के प्रिया (1976), कोहरे (1977) वह तीसरा (1976) प्रतिध्वनियाँ (1978) आदि उपन्यासों में आन्तरिक और विवशता के भंवर में उलझी नारी के जीवन को दर्शाया गया है। ‘कोहरे’ उपन्यास का कथ्य आधुनिक युग में शिक्षित स्त्री पुरुष का अति वैयक्तिक होना, नारी का अपने अस्तित्व के प्रति द्वन्द्वरत होना और नये पुराने मूल्यों के बनने बिगड़ने का द्वन्द्व है। उपन्यास की नायिका स्मिता सुनील से प्रेम विवाह करती है। किंतु दोनों में परस्पर सामंजस्य न होने के कारण संबंधों में तनाव उत्पन्न होता है और इस तनाव की परिणति विवाह विच्छेद के रूप में होती है।

मन्नू भण्डारी के उपन्यास आपका बंटी (1971) तलाक शुदा पति-पत्नी और उनकी शिशु सन्तान को केन्द्र में रखकर आधुनिक स्त्री की जटिलता से भरी जिन्दगी का चित्रण है। दाम्पत्य संबंध का विघटन और नये सिरों से नये संबंध बनकर जीने का आग्रह आधुनिक जीवन की एक सच्चाई है। पर इस स्थिति की जटिलता तब

चुनौतीपूर्ण और त्रासद हो जाती है जब इसके बीच कोई संवेदनशील शिशु आ खड़ा हो जाता है। मन्नू भण्डारी ने इस जटिल स्थिति को गहरी संवेदनशीलता और तीखे यथार्थ बोध के साथ प्रस्तुत किया है।<sup>92</sup>

वस्तुतः लेखिका ने प्रस्तुत उपन्यास में नकली आधुनिकता से युक्त आज की महानगरीय जिन्दगी के एक पहलू की तीखी वास्तविकता का सही बोध कराने का प्रयास किया है। “आज के शिक्षित समाज में टूटते हुए वैवाहिक संबंधों में पिसते हुए छोटे बच्चे की त्रासदी को गहन संवेदनशीलता के साथ उकेरा है। यह आधुनिक जीवन की एक जटिलता है जिसका समाधान इस भौतिकवादी समाज के पास नहीं है।”<sup>93</sup>

स्त्री शिक्षा के प्रसार और पढ़ी लिखी स्त्रियों के स्वावलम्बी होने की प्रक्रिया के साथ उनके जीवन में अनेक समस्याएँ भी पैदा हुईं। शिक्षा और नौकरी की सुविधा मिलने पर लड़कियाँ बड़ी उम्र तक अविवाहित रहने लगीं। विवाह पूर्व—प्रेम और काम संबंध की स्थितियाँ भी पैदा होने लगीं। पर समाज के संस्कार, जाति धर्म से संबद्ध रूढ़ियाँ और मान्यताएँ, तिलक—दहेज की प्रथा और परम्परागत नारी संहिता ज्यों की त्यों विद्यमान रही।<sup>94</sup>

नारी का शोषण हर युग में हुआ है। कभी धर्म शास्त्रों के द्वारा, कभी घर परिवार, समाज द्वारा। आज की नारी जहाँ शिक्षित होकर आत्मनिर्भर बनी है वहीं उसे इस आत्मनिर्भरता की कीमत भी चुकानी पड़ी है। पचपन खम्बे लाल दीवारें (1961) उपन्यास की नायिका सुषमा मध्यमवर्गीय परिवार की है। अपाहिज पिता होने के कारण घर परिवार की जिम्मेदारी भी है। वह घर के सुख के कारण अपनी इच्छा को मार देती है। सुषमा के चारों ओर दायित्व की, कुण्ठा की, अपने पद की गरिमा का दबाव भी है।

“उच्च शिक्षा ने स्त्रियों को स्वावलम्बी ही नहीं बनाया बल्कि उन्हें अपनी अस्मिता और अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाया। उसमें परम्परागत नारी संहिता और संस्कारों के प्रति विद्रोह का भाव भी पैदा हुआ है। इसके चलते वह भटकाव का शिकार भी हुई है।”<sup>95</sup>



तत्सम् (1983) में राजी सेठ ने आधुनिक नारी के पुनर्विवाह की समस्या को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर प्रस्तुत किया है। अब एक आधुनिक स्त्री के लिए पति की मृत्यु हो जाने पर पुनर्विवाह कोई समस्या नहीं है। पर एक संवेदनशील स्त्री के लिए द्वितीय सहयात्री या पति के चुनाव का प्रश्न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना आसान भी नहीं है। उपन्यास की केन्द्रीय पात्र वसुधा परम्परागत संस्कारों के दबाव और अपनी मानसिकता के भंवर में इस प्रकार दबी उलझी है कि वह अपने भावी जीवन के बारे में कोई निर्णय नहीं ले पाती।

मंजुल भगत के उपन्यास 'अनारो' (1977) 'बेगाने घर में' (1978), 'तिरछी बौछार' (1984) विषय के नयेपन के कारण उल्लेखनीय हैं। इनमें शहरी निम्नवर्ग के जीवन का चित्रण मिलता है। 'अनारो' निम्नवर्गीय नारी के शोषण, साथ ही उसकी जिजीविषा और स्वाभिमान की प्रतीक पात्र है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में मृदुला गर्ग अति उल्लेखनीय हैं। इनके उपन्यासों 'उसके हिस्से की धूप' (1975), 'वंशज' (1976), 'चितकोबरा' (1979), 'अनित्य' (1980), 'मैं और मैं' (1984) में नारी की जटिल मानसिकता और अस्मिता का संघर्ष देखा जा सकता है।

मृदुला गर्ग का उपन्यास लेखन नारी केन्द्रित होकर भी आधुनिक बोध को धारण किए हुए है। इनका लेखन नवीन तेवर से युक्त है। सहानुभूति न वे चाहती हैं और न बाँटती हैं। स्वाभिमान उनमें कूट-कूट कर भरा है। वे सत्य के एक अंश को लेकर उसे व्याख्यायित नहीं करतीं, अपितु उसको सम्पूर्णता में ग्रहण करती हैं। उनका मानना है कि उपन्यास हमारे जीवन की विडम्बना को आकृति देता है।<sup>96</sup>

'उसके हिस्से की धूप' त्रिकोणात्मक प्रेम कहानी को आधार बनाकर लिखा गया एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। जीतेन, मधुकर और मनीषा इसके पात्र हैं। मनीषा जीतेन की पत्नी है। जीतेन द्वारा मनीषा को कम समय दिये जाने से उसका झुकाव मधुकर की तरफ हो जाता है। इस सम्बन्ध में गोविन्द रजनीश का मत है— "इसमें

परम्परागत विवाह की एकरसता, जीतेन की उदासीनता और सृजनशील मन की निष्क्रिय बेचैनी से ऊबकर, मनीषा मधुकर की भावुकता की ओर आकृष्ट होती है।<sup>97</sup>

इस सम्बंध में जीतेन कहता है कि— “यह महज आकर्षण है। जब वह चुक जायेगा तो क्या करोगी ? प्रेम जरूर चुक जाता है, यही उसकी नियति है और यही उसकी त्रासदी।”<sup>98</sup>

वर्तमान जीवन की यांत्रिकता ने मनुष्य को जड़ एवं नीरस बना दिया है और यह नीरसता दाम्पत्य जीवन को खोखला कर रही है। जीतेन मधुकर और मनीषा के प्रेम के प्रति उदार है परन्तु “पुरुष में खराब आदतों का अभाव तथा सज्जनता हो, उतना ही एक पत्नी के लिए पर्याप्त नहीं। इसके अतिरिक्त उसका थोड़ा रोमाण्टिक तथा अत्यन्त प्रेमालु होना भी जरूरी है।”<sup>99</sup> और मनीषा जीतेन से विवाह—विच्छेद करके मधुकर से पुनर्विवाह कर लेती है। लेखिका ने मनीषा के माध्यम से परिणय, विवाह, विवाह—विच्छेद और पुनर्विवाह की समस्या को उठाते हुए आधुनिक नारी की तथाकथित आधुनिकता एवं स्वतंत्रता के आवरण का फायदा उठाते हुए भयंकर परिणाम की ओर संकेत करती हैं।

‘चितकोबरा’ के केन्द्र में एक संवेदनशील लेखिका के नीरस, प्रेरणा रहित, ऊब भरी, पति और बच्चों वाली दुनिया में सर्जनात्मकता की प्रेरक शक्ति के रूप में एक व्यक्ति के प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न आवेगात्मक, नैतिक और रचनात्मक तूफान अवस्थित है। दोहरी ज़िन्दगी के तनाव, आधुनिक नारी के विखण्डित व्यक्तित्व, तन—मन के द्वन्द्व और रति कर्म के साहसपूर्ण खुले चित्रण के कारण नयापन दिखाई देता है।<sup>100</sup>

उपन्यास की नायिका मनु महेश की पत्नी है और रिचर्ड से आत्मिक दृष्टि मिलने के कारण उससे प्रेम करती है। जहां महेश उसकी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करता है वहीं रिचर्ड से उसकी आत्मिक एवं मानसिक क्षुधा परिपोषित होती है। जहां महेश उसके जीवन का सत्य है वहीं ‘रिचर्ड’ उसके जीवन का आदर्श। मृदुला जी

का कथन है— ‘प्रेम अपने मूल में ‘प्लेटोनिक’ अशरीरी होता है यानि उसकी परम गति प्रेमी से एकात्म होने में है, एक शरीर होने में नहीं .....प्रेम अपने आदर्श रूप को तभी प्राप्त करता है जब शारीरिकता का कोई महत्व नहीं रह जाता। ईष्ट का आस्तित्व ही सब कुछ है। उसकी उपस्थिति नगण्य है।’<sup>101</sup>

ममता कालिया ने बेघर (1971) उपन्यास में नारी संहिता के एक बड़े ही क्रूर विरोधाभास को प्रस्तुत किया है। यौन शुचिता, कौमार्य और केवल पति से यौन सम्बन्ध नारी संहिता के अनुलंघ्य नियम हैं और जो भी स्त्री जाने-अनजाने इनका उल्लंघन करती है, उसे पुरुष समाज का कोपभाजन होना पड़ता है। यह उपन्यास पितृसत्तात्मक व्यवस्था की एक मानसिकता को उघाड़ता है जहां ‘कौमार्य’ स्त्री जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है। ‘स्त्री को अपने भोग की वस्तु समझने वाला पुरुष इस बात को बर्दाश्त नहीं कर पाता कि विवाह के पूर्व कोई दूसरा उसे ‘जूठा’ कर चुका है। जाहिर है कि यह नियम पुरुष पर लागू नहीं होता। विवाह पूर्व नारी के कौमार्य की पहचान प्रथम समागम पर उसकी सीत्कार, चीख और रक्तस्राव की संदिग्ध कसौटियों से निर्धारित होती है और यदि किसी कारण वह इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती तो उसका शेष सारा जीवन नरककुण्ड बन जाता है।’<sup>102</sup> परम्परा और नैतिकता की चौखटों में बँधा यह समाज घर की अवधारणा को प्रेम के स्थान पर कौमार्य की कसौटी पर कसता है, जहाँ दो बेमेल व्यक्ति साथ-साथ जीवन जीने की विवशता में समझौते करते-करते खत्म हो जाते हैं। संजीवनी की गलती बस इतनी है कि वह अछूती नहीं है। विपिन की क्रूरताओं का शिकार है पर समाज को उसके दर्द से कोई मतलब नहीं।

‘बेघर’ भारतीय मध्य वर्ग की उस मानसिकता का उद्घाटन करता है जहाँ खण्डित कौमार्य के नाम पर औरत की घर पाने की चाह टूटती चली जाती है तो दूसरी ओर अछूती देह की चाह में प्रेम और घर की नींव ढहती चली जाती है और बचता परमजीत भी नहीं है।

मेहरून्निसा परवेज की विशिष्ट औपन्यासिक ख्याति समाज में पुरुषों द्वारा स्त्री-देह के शोषण के संवेदनापूर्ण अंकन में है। 'आँखों की दहलीज़' (1967), 'उसका घर' (1972), 'कोरजा' (1977), आपके स्त्री विषयक प्रमुख उपन्यास हैं। 'उसका घर' में ईसाई परिवार की कहानी है। इसमें पीड़ित स्त्री कहती है— "औरत तो जूठा खाती है, चाहे खाने के मामले में हो, चाहे शारीरिक सम्बन्ध में हो।"<sup>103</sup>

'आँखों की दहलीज़' में मातृत्व क्षमता से रहित, टूटी-हारी मुस्लिम युवती अनचाही परिस्थितियों में एक विवाहित युवक से रति-सम्बंध स्थापित करती है। जो स्वयं तो बेदाग निकल जाता है, पर लड़की मानसिक कुंठा और अवसाद का शिकार होकर दुःखद अंत को प्राप्त होती है। यह रति सम्बंध केवल स्त्री के लिए वर्जित है, पुरुष के लिए नहीं। औरत की पीड़ा में धर्म को कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि सभी धर्मों में नारी जाति को अपमान तथा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और उसे दोगम दर्जे में रखा जाता है।

नासिरा शर्मा के 'शाल्मली' (1987), 'ठकरे की मँगनी' (1989), भारतीय नारी की स्थिति पर आधारित उपन्यास हैं। 'शाल्मली' में आधुनिक परिस्थितियों में पति-पत्नी की समस्या को एक नये कोण से उभारने का प्रयत्न है। हिन्दू परिवार में पत्नी का अस्तित्व पति से अलग अमान्य है। पति आज भी पत्नी को अपनी वस्तु समझता है और पत्नी पति की अनुगता होना अपना धर्म समझती है। दाम्पत्य जीवन में संतुलन तब बिगड़ता है जब पत्नी आर्थिक निर्भरता और स्वतंत्रता को प्राप्त कर लेती है। 'ठीकरे की मँगनी' का कथा संसार मुस्लिम युवतियों की बदतर जिंदगी की कहानी है क्योंकि वहाँ उनकी आचार संहिता मुस्लिम व्यक्तिगत कानून से संचालित है। उपन्यासकार के शब्दों में— "एक घर औरत का अपना भी तो हो सकता है, जो उसके बाद और शौहर के घर से अलग, उसकी मेहनत और पहचान का हो। सवाल रास्ता चुनने का और उस पर दृढ़तापूर्वक चलने का है।"<sup>104</sup> नासिरा शर्मा की स्त्री पात्र राह चुनने की आज़ादी में विश्वास करती दिखाई पड़ती हैं। महिला उपन्यासकारों की इस कड़ी में कमल कुमार 'अपार्थ' और मृणाल पाण्डेय 'पटरंगपुर पुराण' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कमल कुमार

---

प्रथम अध्याय पृष्ठ संख्या - 68

के उपन्यासों की स्त्री पात्र पुरुषवादी व्यवस्था के शोषण और अत्याचार का विरोध करती हुई भी नारीवाद के उग्रवादी रूप को स्वीकार नहीं करती।

### हिन्दी कहानियों में स्त्री-दृष्टि का विकास (प्रारम्भ से 1989 तक)

कहानी जीवन के टुकड़े में निहित अंतर्विरोध, द्वंद्व, संक्रांति अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खंडगत अंतर्विरोध भी बृहत् अंतर्विरोध के किसी न किसी पहलू का आभास दे जाता है। डॉ० पुष्पपाल सिंह के अनुसार— "कहानी आज जीवन के कठोर यथार्थ को प्रतिच्छायित करने वाली सर्वाधिक सशक्त साहित्यिक विधा है .....जीवन की खुरदुरी ज़मीन कहानी के मिज़ाज के अधिक अनुकूल पड़ती है। इसलिए आज कहानी अपने स्वरूप के हलकेपन से पूर्णतः मुक्त होकर एक गम्भीर विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। आज वह हमें आदर्शों का पाठ पढ़ाकर एक नया मनुष्य बनाने का उपक्रम नहीं करती अपितु वह जीवन की समस्त विसंगतियों एवं भयानक यथार्थ से गहरी पहचान कराकर उन स्थितियों पर चोट करती है, जो इन विसंगतियों एवं यथार्थ की भयावहता के लिए उत्तरदायी है और अपने इसी रूप में वह जीवन को या मनुष्य को बेहतर उदात्त की ओर ले जाने का प्रयत्न सिद्ध होती है।"<sup>105</sup>

हिन्दी कहानी के आविर्भाव की दृष्टि से सन् 1900 में प्रकाशित 'सरस्वती' की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी वर्ष जून में किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' प्रकाशित हुई। शुरु में एक मौलिक कहानी के रूप में इसकी अभ्यर्थना और चर्चा हुई, लेकिन बाद में ध्यान जाने पर लोगों ने उस पर किसी बंगला कहानी के साथ ही शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के प्रभाव की चर्चा भी की। माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901), भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), पं० गिरिजा दत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी', आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903), लाला पार्वतीनंदन की 'बिजली' (1904), 'मेरी चंपा'

(1905) और बंग महिला की 'दुलाई वाली' (1907) आदि कहानियाँ इस काल की कहानी के प्रति कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालने की सुविधा देती है। इसी दशक के अंत में वृन्दावनलाल वर्मा की भी दो कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हुई— 'राखीबन्द भाई' और 'तातार और एक वीर राजपूत'। यह वस्तुतः वह दौर था, जब कहानी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में एक दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। यह लड़ाई एक ओर उसके अस्तित्व की है और दूसरी ओर उसकी प्रतिष्ठा की। सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से कहानी को न सिर्फ उपेक्षणीय बल्कि युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था। यही कारण है कि श्रीमती राजेन्द्रबाला घोष को अपना वास्तविक नाम छिपाकर 'बंग महिला' के नाम से कहानियाँ लिखनी पड़ी। इस दशक की कहानियों के संदर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उपन्यास की तरह कहानी का अभ्यास—काल उतना लम्बा नहीं खिचता। न ही उसमें 'उपदेश' और कल्पना की दो समानांतर धाराएं दिखायी देती है। हिन्दी कहानी के विकास की दृष्टि से इस शताब्दी के दूसरे दशक का ऐतिहासिक महत्व है। आगे चलकर जिन्हें हिन्दी कहानी की दो समानांतर धाराओं के रूप में रेखांकित करने की एक परिपाटी सी विकसित हुई— समाजपरक यथार्थवादी कहानियों की धारा और भाववादी व्यक्तिवादी कहानियों की धारा उनका सूत्रपात इसी दशक में हुआ। इस बेटों वाली विधवा कहानी में पं० अयोध्यानाथ की मृत्यु के बाद उनकी विधवा पत्नी फूलमती को बेटे, बहुएँ हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। जो बेटे और बहुएँ फूलमती के इशारे पर चलते थे, बिना पूछे कोई काम नहीं करते थे, वही बेटे पिता के मरते ही विधवा माँ से पूछना तो दूर कोई राय भी लेना उचित नहीं समझते। "बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी कपड़े का है।"<sup>106</sup> प्रेमचंद के इस कथन के साथ पुरुष प्रधान समाज द्वारा बनाये गये इस नियम की आड़ में चार-चार जवान बेटे अपनी विधवा माँ का किस तरह शोषण और अनादर करते हैं, बहन की शादी में कैसे किरफायत करते हैं और पति के होने पर जो स्त्री घर की स्वामिनी थी, बेटों बहुओं के लिए जो पूजनीय थी, पति के मरते ही वह कैसे घर की लौंडी हो जाती है। प्रेमचंद फूलमती को इतनी ताकत नहीं देते हैं कि वह

अपने अधिकार के लिए लड़े। क्योंकि प्रेमचंद को आदर्श से लगाव बहुत है, समाज से मोह है और माँ के अपने ही बेटों से अधिकार के लिए लड़ने से सामाजिक मर्यादा का हनन जो होता। इसलिए फूलमती अपने आपको बदली हुई स्थिति के अनुकूल बना लेती है। वह स्वीकार कर लेती है कि समय बदल गया है। अब तक स्वामिनी बनकर रही, अब लौंडी बनकर रहना पड़ेगा।

विधवा विवाह की समस्या पर केन्द्रित यह कहानी समाज के खोखलेपन की ओर ध्यान आकृष्ट करती है। कहानी के केन्द्र में 17 वर्ष की विधवा मानी है जो माता-पिता और पति की मृत्यु के बाद चाचा वंशीधर के घर में शरण लेती है। चाची की जली-कटी सुनती है और नौकरानी की तरह रहती है। वंशीधर का पुत्र गोपाल उससे प्यार से बोलता अवश्य है पर माँ-बाप का विरोध करने की हिम्मत नहीं है। एक दिन गोपाल का मित्र इन्द्रनाथ गोपाल से कहता है कि वह मानी से विवाह करना चाहता है। गोपाल अपनी माँ से बहाना बनाकर मानी को ले जाता है और इन्द्रनाथ के साथ मानी का विवाह करा देता है। इसकी जानकारी मिलने पर गोपाल की माँ गोपाल को खूब खरी-खोटी सुनाती है। जिससे दुःखी होकर गोपाल घर से भाग जाता है। गोपाल के पिता वंशीधर गोपाल के घर से भागने का दोष मानी पर मढ़ते हैं और उसे खूब अपमानित करते हैं। इस अपमान और लज्जा के कारण मानी ट्रेन से कूटकर अपना प्राणान्त कर लेती है। इस कहानी में प्रेमचंद उस रूढ़िवादी पुरुष समाज को धिक्कारते हैं जो शराब पीकर बदचलनी करता है और पत्नी से पतिव्रता धर्म के पालन की इच्छा रखता है। तभी तो मरने से पूर्व मानी पत्र में लिखती हैं “मैं बड़ी अभागिन हूँ। मेरे लिए संसार में स्थान नहीं है। मेरे लिए मरना ही अच्छा है।”<sup>107</sup>

‘लांछन’ कहानी समाज में स्त्रियों की दशा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहानी है जहाँ पत्नी को जब यह लगता है कि अब पति के साथ उसका निर्वाह नहीं हो सकता तो वह पति का साथ अपनी मर्जी से छोड़ देती है। इस कहानी में देवी अपने पति के बारे में कहती है— “कुछ नहीं यह स्वभाव के नीच, दिल के मैले, स्वार्थी आदमी हैं।

नीचों के साथ नीच ही बनना चाहिए। मेरी भूल थी कि इतने दिनों से इनकी घुड़कियाँ सहती रही। जहाँ इज्जत नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विश्वास नहीं, वहाँ रहना बेहयायी है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गयी नहीं कि यह जो चाहे करें, मारें या काटें पड़ी सहा करूँ। सीता जैसी पत्नियाँ होती थीं, तो राम जैसे पति भी होते थे।”<sup>108</sup> इस कहानी में प्रेमचन्द ने स्त्री पुरुष को समान स्तर पर समान अस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रेमचन्द ने यहाँ पर नारी की बदलती मनःस्थिति का चित्रण करते हुए यह बात स्वीकार किया है कि केवल पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्री भी अपनी इच्छानुसार आचरण कर सकती है।

‘वेश्या’ कहानी में प्रेमचंद ने एक ओर जहाँ भारतीय नारी की परवशता तथा उसकी निर्भरता का मर्मांतक चित्रण किया है वहीं दूसरी ओर एक वेश्या के दिल में छुपे दर्द को उजागर करने का प्रयास भी किया है। कहानी में दो बातें प्रमुख हैं— पहली यह कि लीला आखिर अपने पति की इतनी उपेक्षा और तिरस्कार क्यों सहती है ? मन में विद्रोह की भावना जागृत होने पर भी वह विद्रोह क्यों नहीं करती ? अपने पति के संदर्भ में बात करते समय वह दयाकृष्ण से कहती है— “मैंने तो निश्चय कर लिया है कि अगर मुझे कभी आँखें दिखायीं तो मैं इन्हें मजा चखा दूँगी। मेरे पिताजी फौज में सूबेदार मेजर हैं। मेरी देह में उनका रक्त है। मेरी इस घर में इतनी साँसत हुई है, इतना अपमान हुआ है और हो रहा है कि मैं उसका किसी तरह भी प्रतिकार करके आत्मग्लानि का अनुभव न करूँगी। मैंने पापा से अपना हाल छिपा रखा है। आज लिख दूँ तो इसकी सारी मशीखत उतर जाय।”<sup>109</sup> समाज में स्त्रियों की स्थिति के आलोक में यदि वेश्या कहानी को देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि इस कहानी में प्रेमचन्द ने लीला के साथ कहीं से भी न्याय नहीं किया है। इस कहानी में उन्होंने पत्नी को वेश्या ‘माधुरी’ के स्थानापन्न के रूप में चित्रित किया है। वेश्या द्वारा दुत्कार दिये जाने पर सिंगार सिंह पत्नी के पास लौटता है। पत्नी द्वारा दुत्कारे जाने पर वेश्या के पास नहीं जाता। जब माधुरी को अपना स्वाभिमान आहत होता दिखायी देता है तो वह सिंगार सिंह को दुत्कार कर चली जाती है। लेकिन लीला वर्षों से अपने आहत



स्वाभिमान के साथ पति के साथ रहने को बाध्य है। ऐसा शायद इसलिए है कि लीला के चारों ओर सामाजिक मर्यादाओं का एक बंधन है जिसे प्रेमचंद खोलना नहीं चाहते क्योंकि लीला कुलवधू है और माधुरी स्वतंत्र स्त्री है क्योंकि वह वेश्या है और 'वेश्या स्वतंत्र नारी है।'

नरक का मार्ग कहानी अनमेल विवाह की दंश झेल रही एक स्त्री की आत्मकथा है। अनमेल विवाह के कारण स्त्री के मन में उत्पन्न होने वाली हीन भावना की ओर लेखक ने ध्यानाकृष्ट कराया है। इस कहानी में एक युवती का विवाह एक वृद्ध व्यक्ति से हो जाता है जिससे उसकी शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है। लेकिन युवती इस बात को छुपाती नहीं बल्कि अपने माँ-बाप एवं पति को कोसती है— "जिन लोभी स्वार्थी माता-पिता ने मुझे कुएं में ढकेला, जिस पाषाण हृदय प्राणी ने मेरी मांग में सिंदूर डालने का स्वांग किया, उनके प्रति मेरे मन में बार-बार दुष्कामनाएं उठती हैं। मैं उन्हें लज्जित करना चाहती हूँ। मैं अपने मुँह में कालिख लगाकर उनके मुख में कालिख लगाना चाहती हूँ।"<sup>110</sup> इस कथन से स्पष्ट होता है कि विवाह हमेशा जोड़ का होना चाहिए। अनमेल विवाह के कारण स्त्री अपने दाम्पत्य जीवन को लेकर जो सपने संजोये रहती है वे तार-तार हो जाते हैं, जो आगे चलकर कुण्ठाओं का शिकार हो जाती है।

प्रेमचन्द्र यद्यपि स्त्रियों की वर्तमान स्थिति में आमूल बदलाव के पक्षधर नहीं थे पर वे उसमें सुधार के आकांक्षी अवश्य थे। 1911 में प्रकाशित उनकी 'बड़ी बहन' में एक स्त्री ने अपने अबोध छोटे भाई के हितों की रक्षा के लिए पति के खिलाफ तनकर खड़े होने और पतिव्रता के पुराने मिथ को तोड़ते हुए पति के नापाक मंसूबों पर पानी फेर देने का चित्रण किया गया है। इस कहानी में स्त्री की शक्ति के प्रति प्रेमचन्द्र की आस्था साफ दिखायी पड़ती है। इस कहानी की नायिका कुसुम दहेज लोभी पति का परित्याग कर देती है— "जो आदमी इतना स्वार्थी इतना दम्भ, इतना नीच है। उसके साथ मेरा निर्वाह न होगा मैं कहे देती हूँ, वहाँ रुपये गए तो मैं जहर

खा लूंगी। मैं तो ऐसे आदमी का मुँह भी नहीं देखना चाहती। दादा से कह देना मैंने स्वतंत्र रहने का निश्चय कर लिया है।”<sup>111</sup>

प्रेमचन्द स्त्री अधिकारों उसके सम्मान और उसकी सामाजिक स्थिति के प्रति सचेत दिखाई पड़ते हैं। आलोच्य काल में जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ उत्कृष्ट हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उदात्त प्रेम के तरल भावों के चित्रण में भी प्रसाद के स्त्री पात्र स्वाभिमानी और स्वतंत्र जीवन के प्रति आस्थावान हैं। पुरस्कार की ‘मधूलिका’ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

‘जहाँ लक्ष्मी कैद है’ राजेन्द्र यादव की बहुचर्चित कहानी है। यहाँ लाला रूपाराम के रूप में एक ऐसे पिता की कल्पना की गयी है जो पुत्री को लक्ष्मी मानता है और जिसके मन में यह विश्वास गहराई से जमा बैठा है कि लड़की को घर से निकालते ही, उसका विवाह करते ही, उसकी सारी श्री और सम्पदा भी उसे छोड़ जायेगी। अपने बड़े भाई रोचूराम और उसकी लड़की गौरी का उदाहरण उसके इस विश्वास को पुष्ट करता है। वह उसकी गलती को किसी भी कीमत पर दोहराने के लिए तैयार नहीं हैं। इस प्रकार 26 वर्षीया पुत्री घर में कैद रहने के कारण हिस्टीरिया का शिकार हो जाती है। उसकी त्रासदी को चौकीदार इस प्रकार व्यक्त करता है— “दौरा न पड़े तो जवान लड़की क्या करे। उधर पिछले पांच-छह साल से तो यह हाल है कि दौरे में घंटे दो घंटे वह बिल्कुल पागल हो जाती है। उछलती कूदती है, बुरी-बुरी गालियां देती है, बेमतलब रोती हंसती है, चीजें उठा-उठाकर इधर-उधर फेकती है। जो चीज सामने होती है उसे तोड़फोड़ देती है। बिल्कुल नंगी हो जाती है और जांघों और छाती पीट-पीटकर बाप से कहती है ‘ले’ तूने मुझे अपने लिए रखा है मुझे खा, चबा, मुझे भोग। वह पिटता है, गालियां खाता है और सब कुछ करता है लेकिन पहरे में ज़रा ढील नहीं देता।”<sup>112</sup>

इस पूरे किस्से को सुनकर नया-नया आया गोविन्द पत्रिका में लक्ष्मी द्वारा रेखांकित कहानी के अंश की वास्तविकता समझ लेता है। कैद से मुक्ति का आग्रह

गोविन्द को बेचैन कर देता है और वह सोचने लगता है— “क्या मैं पहला आदमी हूँ जो इस पुकार को सुनकर ऐसा व्यथित हो उठा है या औरों ने भी इस आवाज़ को सुना है और अनसुना कर दिया है? और क्या सचमुच जवान लड़की की आवाज़ को सुनकर अनसुना किया जा सकता है?”<sup>113</sup>

फणीश्वरनाथ रेणु की ‘तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम’ कहानी में महुआ घटियारिन को सौदागार खरीद लेता है और हीराबाई को मोहन कंपनी के स्टेज पर नाचना है तो कभी रौता कंपनी के स्टेज पर, हिरामन को बुरा लगता है जब तरह-तरह के लोग उसे रंडी और पतुरिया कहकर बुलाते हैं। लेकिन, वह किस किससे लड़े? कंपनी की औरत को घर ले जाकर बाकायदा बिठा ले जाने की बात भी उसकी कल्पना से परे है। जब घर में भाभी और गाँव में उनके दूसरे लोग नौटंकी वाली सुन लेने पर उसका जीना मुहाल कर सकते हैं तो इससे आगे की बात तो शायद सोची भी नहीं जा सकती। अर्थात् समाज में रण्डी या पतुरिया को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

स्त्री अधिकारों के पक्षधर अमरकांत की कहानियां पुरुष-प्रधान सत्ता पर तीखा ब्यंग्य करती हैं। आपकी नारी पात्र पुरुष की अपेक्षा अधिक समझदार दिखाई पड़ती हैं उनमें सामाजिक, मनोविज्ञान, खासकर महिलाओं के प्रति पुरुष मनोविज्ञान की गहरी समझ है। दोपहर का भोजन, एक ड्रामा यह भी, सवाल के बीच लड़की, चिन्ताओं के बीच विवश रात, मूस, फूलरानी, औरत का क्रोध, सहधर्मिणी, आदि कहानियों में आपके नारी विषयक दृष्टिकोण परिलक्षित होते हैं। ‘दोपहर का भोजन’ में एक आदर्श पत्नी और माँ का चित्रण सिद्धेश्वरी के रूप में दिखता है जो खाली पेट पानी-पीकर अचेत हो जाती है, टूटते-बिखरते सदस्यों को झूठ बोलकर ही सही हँसाने का प्रयत्न करती है और उन सब के बीच सेतु बनी रहती है। वह एक ऐसी भारतीय नारी का प्रतीक बनकर उभरी है जो परिवार के सभी सदस्यों के भोजनोपरांत सबसे अंत में बची खुची तरकारी और मोटी-भद्दी अधजली लिट्टी लेकर भोजन करने बैठती है और उसकी अर्न्वदना मोती बनकर टप-टप चूने लगते हैं। फटी ब्लाउज और पैबंद लगी गंदी साड़ी

---

प्रथम अध्याय पृष्ठ संख्या – 75

उसके कर्त्तव्य पथ में बाधा नहीं उत्पन्न करते। सिद्धेश्वरी के माध्यम से कहानीकार ने समूचे निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों की मौन व्यथा को अभिव्यक्ति दी है। 'एक ड्रामा यह भी' की नायिका चंचला अनाथ युवती है। गाँव के अधेड़ व्यक्ति, यहाँ तक कि डिग्री कॉलेज के प्रवक्ता कामेश जी भी हाथ धोकर उसके पीछे पड़े हैं किंतु, वह बहुत समझदारी से काम लेती है। किसी की जाल में न फँसकर परिश्रम व लगन से केन्द्रीय सचिवालय में क्लर्क बन जाती है। अपनी पंसद के लड़के से अंतरजातीय विवाह रचा लेती है। उसकी सफलता से गाँववालों की बोलती बंद हो जाती है। 'चिन्ताओं के बीच विवश रात' की नारी पात्र को उसका पति बच्चा पैदा करने की मशीन समझता है। वह जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण इसलिए नहीं लगता है क्योंकि ऐसा करने से उसकी कौम अल्पसंख्यक हो जाएगी।

कमलेश्वर की कहानी 'इतने अच्छे दिन' में गरीबी और अकाल की विभीषिका की त्रासदी कमली को देह व्यापार में धकेल देती हैं। वह अपने परिवार को भुखमरी से बचाने के लिए अपने सपनों की बलि चढ़ा देती है— "घर बसाऊँगी तो लौट के वहीं गाँव के बाहर झोपड़ी डालनी होगी। कुआँ सूखेगा तो फिर इधर ही भागना पड़ेगा।" इस प्रकार कमलेश्वर की स्त्री पात्र रोजी-रोटी चलाये रखने के लिए देह व्यापार को बुरा कर्म नहीं मानती।

स्वदेश दीपक की 'सबसे लम्बा बौना' कहानी एक स्त्री के प्रतिकार की कहानी है। इसमें एक बौना पति अपनी पत्नी के प्रति पाशविक बर्ताव करता है, लेकिन जब पत्नी के हल्के धक्के से ही पति गिर जाता है तो वह भी पाशविक प्रवृत्ति अपना लेती है। यहाँ तक की दूसरे व्यक्तियों के साथ शारीरिक संबंध भी बना लेती है।

शैलेश मटियानी की कहानियों में 'एक बदलता हुआ परिदृश्य', 'बित्ता भर सुख', 'कैक्टस' आदि में स्त्री चित्रण का आधुनिक स्वरूप दिखाई देता है। 'एक बदलता हुआ परिदृश्य' की नायिका सुमित्रा विधवा होने के बावजूद हरिकिशन नामक व्यक्ति से शारीरिक संबंध स्थापित करती है और गर्भवती हो जाती है। पारिवारिक प्रताड़ना और

सामाजिक वर्जनाओं को धता बताते हुए शारीरिक संबंध को आनन्द का पर्याय मानती है। उसके मन में किसी प्रकार के पाप या उससे प्रायश्चित का भाव नहीं उत्पन्न होता। बाह्य दबावों को असह्य मानते हुए स्वतंत्रतापूर्वक जीने का निर्णय एक बदलते परिदृश्य का द्योतक है। 'कैक्टस' कहानी की तलाकशुदा मिसेज जायसवाल स्पष्टवादी महिला है। विवाह पूर्व प्रेमपत्र को पढ़कर उसका पति उससे घृणा करने लगता है इसलिए वह अपने पति को तलाक दे देती है। 'चिट्ठी के चार अक्षर' की दुर्गा निम्न जाति की गरीब लड़की है। वह बूढ़े पिता की इकलौती संतान है। अपनी गाय बकरियों को चराने के लिए उसे अकेले वन में जाना पड़ता है। वहाँ उसे लड़को की अश्लील बातें और भद्दे मजाक सुनने पड़ते हैं— "चूँकि दुर्गा गरीब कन्या थी इसलिए ठाकुर-ब्राह्मणों के लिए उसे छोड़ने की, अपने से हीन समझकर हंसी ठिठोली करने की भी छूट थी।" वहीं पर उसे परताप ठाकुर से प्रेम हो जाता है और वह गर्भवती हो जाती है। हर तरफ से उसे न छोड़ने का आश्वासन देने वाला परताप सामाजिक दबाव के कारण उसे अपना नहीं पाता। 'भागवती' वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री के जीवन में बुढ़ापे के समय में आने वाले अकेलेपन के दंश को झेलने वाली कहानी है।

महीप सिंह ने विवाहेत्तर स्त्री-पुरुष संबंधो पर अच्छे ढंग की कहानियाँ लिखी हैं। 'शोर' कहानी की नायिका शादीशुदा होते हुए भी एक विवाहित पुरुष से प्रेम करती है। दो भागों में विभक्त होकर जीना उसे पसंद नहीं इसलिए पति को छोड़कर प्रेमी से विवाह करना चाहती है— "क्या यह जिदंगी ऐसे ही गुजरेगी? क्या मैं तुम्हें पा नहीं सकती? लेकिन आज के प्रेमी की बात तो जग जाहिर है। दूसरों की स्त्री में प्रेमजाल में फँसाकर। रस लूटने के बाद उसे मानसिक अर्न्तद्वन्द्व झेलने के लिए छोड़ देना ही पुरुष प्रेमी की मानसिकता होती है। किंतु स्वच्छंद प्रेम की प्यासी विवाहित प्रेयसी सब कुछ गंवाने के बाद ही इस रहस्य को समझ पाती है।

इसी तरह रवीन्द्र कालिया की कहानी 'हथकड़ी' में दो स्त्री पात्र हैं। एक ओर सुधा है जो अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित है और दूसरी ओर राधा है जिसका विवाह

हो चुका है फिर भी उसे पर पुरुष से संबंध बनाने में उसे कोई आपत्ति नहीं है। राधा को अपनी सहेली के पति से संबंध बनाने में भी अपराध बोध नहीं है।

कृष्णबलदेव वैद्य की 'वह कौन थी' कहानी में स्त्री-पुरुष संबंधों को रेखांकित करते हुए पुरुष के स्वाधीनता के एकाधिकारी होने पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। कहानी की नायिका पुरुष के जीवन में आने वाली किसी अन्य स्त्री के बारे में पूछती है। पुरुष कुछ भी नहीं बताना चाहता केवल उसे भोगकर संतुष्ट होना चाहता है। लेकिन नायिका अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर अपने प्रश्न का उत्तर चाहती है— 'वह कौन थी?'

मृदुला गर्ग के कहानी संग्रह 'संगति-विसंगति' में हरी बिंदी, कितनी कैदें, उसकी कराह आदि कहानियाँ प्रकाशित हैं। 'हरी बिंदी' में एक ऐसी विवाहिता की स्वतंत्रताकांक्षा का चित्रण है जो अपने पति की बंदिशों से त्रस्त है जब उसका पति परदेश चला जाता है तो वह स्वतंत्रता का अनुभव करती है। उसे इस बात की कोई चिंता नहीं कि लोग क्या कहेंगे? नीले सूट पर हरी बिंदी लगाना उसकी स्वाधीनता का द्योतक है। कहानीकार स्वयं कहती हैं— "हमेशा से मैं महसूस करती रही हूँ कि व्यक्ति को यंत्र में तब्दील होने से कुछ रोक सकता है तो वह है— उसका खुद से साक्षात्कार। अधिकतर लोग अपने साथ अकेले होने से डरते हैं। अकेले रहने पर आदमी अपने लिए खुद सोचने पर मजबूर हो जाता है और कायर या जड़ व्यक्ति सोचना नहीं चाहता। मैं समझती हूँ कि जो आदमी अपने साथ कुछ क्षण अकेले गुजार सकता है वही अपनी अस्मिता को बनाये रख सकता है और दूसरों की तरह ईमानदार बना रह सकता है।"<sup>114</sup>

'कितनी कैदें' की मीना कॉलेज के हिप्पी लड़कों द्वारा बलात्कार का शिकार होती है और ड्रग्स लेने के कारण मानसिक रुग्णता को प्राप्त हो जाती है। इस घटना के उपरांत अपनी माँ की उपेक्षा से त्रस्त होकर अवसाद ग्रस्त हो जाती है। विवाहोपरांत पति मनोज से सामान्य व्यवहार नहीं कर पाती। कोयना नदी में आए भूचाल के कारण

लिफ्ट में फँसी मीना से उसका पति मनोज उसके साथ अमानवीय ढंग से शारीरिक संबंध बनाता है तो वह अपने कैद से मुक्त हो जाती है। किंतु उसके जीवन का राज जानकर मनोज विषादग्रस्त हो जाता है। यह कहानी मनोवैज्ञानिक स्तर पर रुग्ण काम वृत्ति का समाधान प्रस्तुत करती है। साथ ही यह प्रश्न भी खड़े कर जाती है कि पति अपने अमानवीय कृत्य को जायज समझता है किंतु विवाहपूर्व हुए पत्नी के साथ अमानवीय व्यवहार को नाजायज समझकर आवसाद ग्रस्त हो जाता है। दुनिया का कायदा, दूसरा चमत्कार, दो एक फूल आदि कहानियों में भी स्त्री पर किए जाने वाले अमानवीय कृत्यों को उजागर किया गया है।

मेहरुन्निसा परवेज़ का प्रसिद्ध कहानी संग्रह 'आदम और हवा' 1972 में प्रकाशित हुआ। इसमें 'अपना गुलमोहर' कहानी की 'सुधा' स्त्री-स्वातंत्र्य का प्रतीक बनकर उभरी है। नौकरीशुदा 'सुधा' के विवाह के प्रति उसके माँ-बाप ध्यान नहीं देते जबकि उसके छोटे भाइयों की शादी हो चुकी है। अंततः वह स्वयं अपने लिए लड़का पसंद करती है और उससे विवाह का निर्णय करती है। बड़े भाई के बड़े विरोध के बावजूद वह अपने निर्णय पर अड़िग रहती है। 'बंजर दुपहर' दाम्पत्य जीवन में कड़वाहट की कहानी है। सपना और राजेन्द्र एक साथ रहकर भी केवल पति-पत्नी के रिश्ते की औपचारिकता निभाते हैं जबकि उनके संबंधों में गहरा परायापन आ चुका है। सपना अपने दाम्पत्य जीवन की ऊब, ठंडेपन, कृत्रिमता, खीझ से तंग आकर सोचती है— "शायद इसी वातावरण से तंग आकर विदेशी अपना पार्टनर बदलते रहते हैं। वहाँ जीवन एक छलकता जाम है मगर यहाँ जीवन ऊब और बर्फ से ज्यादा कुछ नहीं, कोई चेंज नहीं तो क्या वह खुद राजेन्द्र की जगह दूसरे को?"<sup>115</sup>

दीप्ति खण्डेलवाल के कहानी संग्रह 'वह तीसरा' 1976 में 'संधिपत्र' तथा 'भूख' कहानियाँ अधिक संवेदनशील हैं। 'संधि पत्र' उन्मुक्त जीवन जीने वाले दंपति की कहानी है। यहाँ दोनों अपनी-अपनी भूमिकाओं में स्वतंत्र है। छद्म आधुनिकता के नकाब के चलते वैवाहिक जीवन की पवित्रता यहाँ नष्ट होती दिखाई पड़ती है। पति रोहित को अपनी पत्नी शोभा और मिस्टर वर्मा के संबंध पर कोई आपत्ति नहीं है वहीं

शोभा को भी रोहित और मिस रूबी के संबंधों से कोई परेशानी नहीं है। भूख कहानी, भूख की करुण त्रासदी को व्यक्त करती है। यहाँ अपने बच्चों और पति को भूख से बिलबिलाता देखकर गरीब रधिया अपना तन बेचने को तैयार हो जाती है— “डिरेबर साब रोसनी—ओसनी बुझा दो, हमका लाज आवत है..... अरे नहीं, देखो रोशनी रहने दोगी, तो पूर पाँच रूपये और दूँगा। पूरे पाँच रूपये..... वैद जी ताकत की दवा का दाम तो पाँच रूपये ही बता रहे थे..... कोई गीत गुनगुनाओगी तो पूरे पाँच रूपये और दूँगा यानी पूरे बीस रूपये।”<sup>116</sup>

इस कहानी में एक ओर मानवीय पीड़ा और अस्मिता के बीच समझौता होता है अस्तित्व की रक्षा के लिए, तो दूसरी ओर पैसे से जवानी और ताकत खरीदकर स्त्री को नंगे बदन देखने, संगीत सुनने और जवानी के पैसे वसूल करने में आनंद का अनुभव करता है। इस प्रकार अपने कथ्य में यह कहानी अधिक श्रेष्ठ है।

निरूपमा सेवती में कहानी संग्रह ‘आतंक बीज’ में संकलित ‘तलफलाहट’ में एक ऐसी कामकाजी महिला के दर्द को मूर्त किया गया है जो अपनी पसंद के पुरुष से केवल इसलिए विवाह नहीं कर पाती, क्योंकि उसकी नजर अधिक वेतन पाने वाली लड़की पर है। हताश होकर वह ऐसे पुरुष से विवाह करती है जिसका वेतन उससे डेढ़ सौ रूपये कम है। अब उसका पति उससे इसलिए ईर्ष्या करता है कि पत्नी का वेतन उसके वेतन से अधिक क्यों है? वह तनावग्रस्त हो जाती हैं किंतु उसे पता है कि नौकरी छोड़ने पर दुर्गति और बढ़ जायेगी। अतः वह नौकरी नहीं छोड़ती। यहाँ स्त्री आर्थिक स्वतंत्रता ही पति की ईर्ष्या का कारण बनकर उसे तड़पने के लिए विवश करती है।

मृणाल पाण्डेय की कहानी ‘चमगादड़े’ में आर्थिक तंगी से उत्पन्न स्वार्थ परता के बहाने स्त्री की पीड़ा व्यक्त करती है— “इस घर में बस सबकी दुखती रग है पैसा। घर की जिम्मेदारी न होती तो वह भी ढूँढ लेती कोई नौकरी..... पर देता भी



उसे कौन उसे नौकरी? माइनस ग्यारह का मोटा चश्मा, मोटी फूहड़ देह, दो चार बार कोशिश भी की तो लोग शकल देखकर ही बिदक गए।”<sup>117</sup>

मन्नू भंडारी के ‘त्रिशंकु’ 1978 कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ स्त्री चित्रण के लिहाज से उत्कृष्ट हैं। ‘आते-जाते यायावर’ प्रेम के नाम पर छली गई स्त्री की कहानी है। ‘दरार भरने की दरार’ पति-पत्नी के अहं के टकराव से उत्पन्न मनोदशा का यथार्थ विश्लेषण प्रस्तुत करती है। ‘स्त्री सुबोधिनी’ नये तर्ज और नये ढंग से लिखी गई एक सशक्त कहानी है। कथा में नायिका बॉस के प्रेम में छली गई है। और अपनी आत्माभिव्यंजना द्वारा अपनी बहनों को प्रेमजाल के भटकाव से बचाना चाहती है। वह नहीं चाहती कि जो पीड़ा वह सह चुकी है वही उसकी बहनें भी सहें। वह सोचती है— “आठ साल तक चलने वाला प्रेम प्रसंग महज एक खिलवाड़ था, जिसकी बाजी बड़ी होशियारी से शिंदे ने बांटी। भ्रम जाल के कटते ही नजर साफ हुई तो बाजी में बंटे हुए पत्तों का यह नक्शा रह-रह कर मेरी आँखों में उभरने लगा। तुरूप का इक्का यानी घर..... उसके पास। तुरूप का बादशाह यानी बच्चा..... उसे पास। तुरूप का गुलाम यानी..... नौकर चाकर गाड़ी बंगला उसके पास। लब्बो लुआब यह कि तुरूप के सारे पत्ते उसके पास और मुझे मिले उसके दिये हुए छक्के पंजे, यानी टोटके की तरह पुड़िया में बंधे दार्शनिक लफ्फाजी में लिपटे हवाई प्यार के चंद जुमले।”<sup>118</sup> स्त्री मनोभावों के अर्न्तद्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने के उपरांत ‘तीसरा हिस्सा’ कहानी में स्त्री का सर्वाधिक दृढ़ निश्चयी और फौलादी चेहरा प्रस्तुत किया गया है जो अपने आप में बेजोड़ दिखता है। क्योंकि अब तक प्रेम विवाह, विवाहेत्तर स्त्री-पुरुष संबंधों पर कहानी रचने वाली भंडारी जी ने इसमें शक्ति स्वरूपा के रूप में दबंगई के साथ प्रस्तुत किया है। इसकी नायिका अपने पति के साथ मर्दों जैसा बर्ताव करती है और आदेश देती है— “मैं जा रही हूँ, महरी तो आज भी नहीं आई। सब्जी बनाकर रख दी है— मुझे देर हो रही है, रोटी खुद ही सेंक लेना। एडहेंड! चार सौ रूपल्ली पाने वाला आदमी पहले खुद तो इन्सान बनकर दिखा दे..... इन्सानियत की बात करेंगे।”<sup>119</sup>

उषा प्रियंवदा की कहानियों में स्त्री लिजलिजे वैवाहिक संबंधों का तिरस्कार करके स्वतंत्रता का अनुभव करती हैं। 'संबंध' की श्यामला और 'प्रतिध्वनियां' की वसु इस दृष्टि से उल्लेखनीय नायिकाएं हैं।

राजीसेठ की कहानियों में नायिकाएं भय, संत्रास, पीड़ा, दाम्पत्य जीवन की दुश्वारियों के बोझ तले दबी हुई अंधे मोड़ से आगे नहीं बढ़ पातीं। आत्मपीड़ा झेलती इनकी नायिकाओं में पुरुष विरोध का साहस नहीं दीख पड़ता। 'अनावृत्त कौन' में राजी सेठ साहस अवश्य दिखाया है, जहां नायिका अपने पति के साथ कैबरे डांस में जाने से मना करती है, जिसके कारण उसे गृहत्याग का दंश झेलना पड़ता है।

शशिप्रभा शास्त्री का कहानी संग्रह 'दो कहानियों के बीच' 1978 में प्रकाशित हुआ। संग्रह के शीर्षक में दाम्पत्य जीवन के बीच यौन सम्बन्धों की आवश्यकता पर विचार किया गया है। कथा नायिका शुभा सनातन से विवाह करने से इसलिए मना कर देती है क्योंकि उसमें पुरुषत्व संबंध गरमी का एहसास नहीं होता। 'गंध' कहानी पति-पत्नी के बीच अतृप्त यौन संबंधों पर ही टिकी है। इसमें पत्नी अपनी कामेच्छा शांत करने के लिए अपने मित्र नकुल से शारीरिक संबंध बनाती है। इस प्रकार अधिकतर कहानीकारों ने विवाह संस्था का बहिष्कार करके स्वच्छंद प्रेम, विवाहेतर शारीरिक संबंध का चित्रण करने में अधिक रुचि दिखाई है।

स्त्री सरोकारों के प्रति समर्पित चित्रा मुद्गल ने 'दूसरी औरत की कहानियां' का 1988 में सम्पादन किया है। इस संग्रह की समस्त कहानियां स्त्री से जुड़े संदर्भों की गहरी समझ से ओतप्रोत हैं। इनकी स्त्री पात्र सामाजिक सीमाओं का उल्लंघन करती हुई विवाह के मार्ग को नहीं बल्कि प्रेम के गलियों से गुजरती हुई 'दूसरी औरत' का दर्जा पाती है। चित्रा मुद्गल 'दूसरी औरत' की व्याख्या करते हुए लिखती हैं— "दूसरी औरत कल भी थी, दूसरी औरत आज भी है, मगर कल की दूसरी औरत समाज में 'रखैल' थी। तिरस्कृत, बहिष्कृत, लांछित—पुरुष की इच्छाओं का मात्र खिलवाड़ या कभी किसी के जीवन की भावनात्मक शून्यता को भरनेवाला, अप्रकट निमित्त! लेकिन कल

की अधिकार वंचिता रखे। आज अपने लिए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक एवं मानवीय पृष्ठभूमि पर नई परिभाषा चाहती है। आज वह अपने परम्परागत परिचय से अलग खड़ी अपनी पहचान की मांग ही नहीं कर रही, स्वयं गढ़ भी रही है और उसे स्वाभिमान के साथ व्याख्यायित भी कर रही है..... मान्यता, पहचान और प्रतिष्ठा की इस लड़ाई में खड़ी दूसरी औरत, कहीं तो घबराकर हार मानने को तैयार है, लेकिन अधिकांशतः कमर कसकर समाज की थोथी मर्यादाओं और असंगत जीवन-मूल्यों को चुनौती देती यह साबित कर रही हैं कि उसकी पहल न कहीं अनैतिक है, न सामाजिक नियम-धर्म के प्रति उच्छृंखलित। वह इसे स्त्री स्वतंत्रता संघर्ष और उसकी सामाजिक छवि की अन्वेषी भूमिका मानती है।<sup>120</sup>

### सन्दर्भ ग्रंथ—सूची

- 1 नारी प्रश्न, सरला माहेश्वरी, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पहला संस्करण 1998 पृ० 82
- 2 भारत की प्राचीन संस्कृतियां एवं सभ्यताएं, डॉ. एच. एन. दुबे, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद—2003 पृ० 84
- 3 भारतीय स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ, संपादक— प्रतिभा जैन, संगीता जैन, रावत प्रकाशन, जयपुर—1998, पृ० 43
- 4 राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा, डॉ. ओ. पी. गाबा, मयूर प्रकाशन, नोएडा 2005, पृ० 400
- 5 सोशल साइंटिस्ट (अंक 4—5, नवंबर—दिसम्बर 1975), पृ० 80
- 6 वूमैन्स मूवमेन्ट, बारबरा डेंकार्ड, पृ० 181
- 7 इरफान हबीब, भारतीय इतिहास में मध्यकाल, संपादन और अनुवाद, रमेश रावत, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2002, पृ० 35
- 8 मनुस्मृति, 5—148, नागपाश में स्त्री, संपादक गीताश्री, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2010, पृ० 156
- 9 वही, पृ० 157
- 10 अद्भुत भारत, ए. एल बाशम, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कंपनी आगरा, संशोधित हिन्दी संस्करण, पृ० 130
- 11 नागपाश में स्त्री, संपादक गीताश्री, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2010 पृ० 159
- 12 थैरी गाथा की स्त्रियां और डॉ. अम्बेडकर, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली संस्करण 2005 पृ० 21
- 13 वही, पृ० 21—22
- 14 भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति, संपादक— प्रो. कुँवर पाल सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, तृतीय संस्करण पृ० 295

- 15 जाति समाज में पितृसत्ता, उमा चक्रवर्ती, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, प्रथम हिंदी संस्करण 2011,  
पृ० 22
- 16 वही, पृ० 16
- 17 भारतीय इतिहास में मध्यकाल : इरफान हबीब, संपादन और अनुवाद रमेश रावत, ग्रंथशिल्पी  
प्रकाशन दूसरा संस्करण 2002 पृ० 34
- 18 मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, संपादक लईक अहमद, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद,  
संस्करण 2005, पृ० 175
- 19 मीराबाई की पदावली, संपादक—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग,  
इलाहाबाद 22वां संस्करण, पृ० 107
- 20 स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला  
संस्करण 2011, पृ० 17
- 21 वही, पृ० 25
- 22 भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, विपिन चंद्रा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली,  
1997, पृ० 46
- 23 नवजागरण और प्रताप नारायण मिश्र, भगवती प्रसाद शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,  
1994, पृ० 6
- 24 स्त्री विमर्श : विविध पहलू, सं० कल्पना वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं० 2011,  
पृ० 212
- 25 रस्साकशी, वीर भारत तलवार, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृ० 39
- 26 स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ० 124
- 27 देवरानी—जेठानी की कहानी, पण्डित गौरीदत्त, पृ० 21
- 28 सीमान्तनी उपदेश, एक अज्ञात हिंदू औरत, संपादक— डॉ० धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, संस्करण  
2006, पृ० 112—13
- 29 स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2011, पृ०  
51—52
- 30 स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, वाणी प्रकाशन, तृतीय आवृत्ति संस्करण 2009, पृ० 72
- 31 रस्साकशी, वीर भारत तलवार, सारांश प्रकाशन, दिल्ली—हैदराबाद, संस्करण 2012, पृ० 117
- 32 नारीवादी राजनीति : संघर्ष एवं मुद्दे, संपादक— साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी  
लोकनीता, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली वि.वि., प्रथम संस्करण 2001, पृ०  
175
- 33 उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, हिंदी परिषद् प्रकाशन,  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 2008, पृ० 155
- 34 शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा पेपर बैक  
संस्करण, पृ० 127
- 35 उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, प्रणय कृष्ण, हिंदी परिषद् प्रकाशन,  
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 2008, पृ० 260

- 36 अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, अर्चना वर्मा, मेघा बुक्स प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण  
2008 के कवरपेज से
- 37 सीमान्तनी उपदेश, एक अज्ञात हिंदू औरत, संपादक— डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नई  
दिल्ली, संस्करण 2006, पृ० 71
- 38 स्त्री-पुरुष तुलना, ताराबाई शिंदे, मराठी से अनुवाद जुई पालेकर, संवाद प्रकाशन, मुंबई  
मेरठ, दूसरा संस्करण 2015, पृ० 26
- 39 स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, चारु गुप्ता, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012, पृ० 33
- 40 तद्भव, जनवरी 2010, संपादक— अखिलेश, पृ० 43
- 41 हंस, मार्च 1993, संपादक— राजेन्द्र यादव, पृ० 7
- 42 शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा पेपर बैक  
संस्करण, पृ० 32
- 43 उपन्यासों के सरोकार, डॉ० ई० विजयलक्ष्मी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला  
संस्करण 2012, पृ० 17
- 44 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो० गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,  
पहला संस्करण 2002, पृ० 13
- 45 वही, पृ० 25
- 46 सुशीला विधवा, लज्जाराम शर्मा, पृ० 153
- 47 आदर्श हिन्दू, लज्जाराम शर्मा, पृ० 170
- 48 आदर्श हिन्दू भाग-3, लज्जाराम शर्मा, पृ० 280
- 49 अँगूठी का नगीना, किशोरीलाल गोस्वामी, पृ० 95
- 50 पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, किशोरीलाल गोस्वामी, पृ० 100
- 51 स्त्री प्रश्नों के बीच प्रेमचन्द, शंभुनाथ, वर्तमान साहित्य पत्रिका, जुलाई-2005 (प्रेमचन्द  
विशेषांक), पृ० 94
- 52 वरदान, प्रेमचन्द, पृ० 94
- 53 प्रतिज्ञा, प्रेमचन्द, पृ० 97
- 54 वही, पृ० 110
- 55 निर्मला, प्रेमचन्द, साक्षी प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृ० 40
- 56 कर्मभूमि, प्रेमचन्द, दिल्ली, संस्करण 2005, पृ० 128
- 57 गोदान, प्रेमचन्द, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण 2011, पृ० 36
- 58 वही, पृ० 279
- 59 हिन्दी का गद्य साहित्य, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी,  
सातवां संस्करण 2009, पृ० 163
- 60 कंकाल, जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2003, पृ० 17
- 61 वही, पृ० 159
- 62 तितली, प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ० 119
- 63 हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ०  
71
- 64 परख, जैनेन्द्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 76
- 65 सुनीता, जैनेन्द्र, पूर्वोदय प्रकाशन, संस्करण 2001, पृ० 15

- 66 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 151
- 67 निराला रचनावली भाग-3, संपा० नंदकिशोर नवल, पृ० 91
- 68 विदा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पृ० 42
- 69 चित्रलेखा, भगवतीचरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ० 42
- 70 वही, पृ० 53
- 71 त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2004, पृ० 83
- 72 वर्तमान साहित्य, जनवरी-फरवरी 2000, पृ० 312
- 73 त्यागपत्र, जैनेन्द्र, पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 2004, पृ० 72
- 74 तद्भव, अक्टूबर 2005, पृ० 44
- 75 साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ० मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, संस्करण 2001, पृ० 233
- 76 शेखर : एक जीवनी, भाग-1, अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1984, पृ० 206
- 77 शेखर : एक जीवनी विविध आयाम, डॉ० रामकमल राय, अभिव्यक्ति प्रकाशन, संस्करण 1998, पृ० 36
- 78 वही, पृ० 150
- 79 दादा कामरेड की भूमिका से, यशपाल, पृ० 6
- 80 हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2011, पृ० 124
- 81 बाणभट्ट की आत्मकथा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 15वां संस्करण 2003, पृ० 216
- 82 हिन्दी उपन्यास का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2011, पृ० 264
- 83 वही, पृ० 266
- 84 ग्राम सेविका, मार्कण्डेय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृ० 63
- 85 कथा प्रसंग : यथा प्रसंग, प्रो० निर्मला जैन, पृ० 116-17
- 86 हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला, डॉ० रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, पृ० 165
- 87 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 377
- 88 वही, पृ० 352
- 89 मित्रो मरजानी, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, आवरण पृ० 1
- 90 सूरजमुखी अंधेरे के, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, आवरण पृष्ठ से
- 91 वही, पृ० 11
- 92 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 422
- 93 आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास, डॉ० पारुकान्त देसाई, पृ० 25
- 94 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ० 420
- 95 वही, पृ० 420

- 96 हंस, जनवरी 1999, पृ० 107  
97 समीक्षा, मई-जून 1976, पृ० 26-27  
98 वही, पृ० 27  
99 उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग, अक्षर प्रकाशन, संस्करण 1975, पृ० 20  
100 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ०  
352  
101 चितकोबरा, मृदुला गर्ग, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, संस्करण 1979, पृ० 7  
102 हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ०  
342  
103 वही, पृ० 331  
104 वही, पृ० 381  
105 समकालीन कहानी, युगबोध का सन्दर्भ, डॉ० पुष्पपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई  
दिल्ली, पृ० 49  
106 बेटों वाली विधवा, प्रेमचन्द मानसरोवर खण्ड 1, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2000,  
पृ० 80  
107 धिक्कार प्रेमचन्द, मानसरोवर खण्ड 1, हंस प्रकाशन, संस्करण 2000, पृ० 223  
108 लांछन प्रेमचन्द, मानसरोवर खण्ड 1, हंस प्रकाशन, संस्करण, अक्टूबर 2001, पृ० 119  
109 वेश्या प्रेमचन्द, मानसरोवर भाग 2, हंस प्रकाशन संस्करण 2008, पृ० 38  
110 नरक का मार्ग प्रेमचन्द्र, मानसरोवर भाग 3, पृ० 27  
111 हिन्दी कहानी का इतिहास, गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002, पृ०  
221  
112 जहाँ लक्ष्मी कैद है, राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2001, पृ० 295  
113 वही, पृ० 296  
114 साठोत्तरी महिला कहानी, डॉ० मधु संधु, सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984  
115 आदम और हौव्वा, मेहरुन्निसा परवेज़, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1972, पृ० 5  
116 वह तीसरा, दीप्ति खंडेलवाल, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1976, पृ० 35  
117 दरम्यान कहानी संग्रह में संकलित कहानी 'चमगादड़े', मन्नू भण्डारी, पराग प्रकाशन, दिल्ली,  
संस्करण 1977, पृ० 20  
118 त्रिशंकु कहानी संग्रह में संकलित कहानी 'आते जाते यायावर', मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन,  
नई दिल्ली, 1978, पृ० 42  
119 त्रिशंकु कहानी संग्रह में संकलित कहानी तीसरा हिस्सा, मन्नू भण्डारी, अक्षर प्रकाशन,  
दिल्ली, संस्करण 1978, पृ० 97-100  
120 हंस, जनवरी 1984, लुगाईजात, यादवेन्द्र चन्द्र शर्मा, पृ० 37।